# विकास का समाजशास्त्र

श्यामाचरण दुबे

ISBN 81-7055-471-3

वाणी प्रकाशन
२१ ए दरियागंज नयी दिल्ली 110002
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण 1996

मूल्य : 150 00

कम्प्यूटेक सिस्टम दिल्ली 1100032
द्वारा लेजर कम्पोज
शुभम ऑफसेट प्रेस दिल्ली 110032
द्वारा मुद्रित

VIKAS KA SAMAJSHASTRA
by Shyama Charan Dube

सरस्वती नः
सुभगामयस्करत्

*के. के. बिड़ला फाउंडेशन के आर्थिक सहयोग से*
*वाणी प्रकाशन द्वारा प्रकाशित*

# भूमिका

**नियोजित परिवर्तन, विकास और आधुनिकीकरण** की अवधारणाएँ पिछले पाँच दशको से मानवीय चिन्ता और विश्वव्यापी सवाद के केन्द्र मे रही हैं। ससार के दो तिहाई भाग के अवरुद्ध विकास और उससे उपजी दैन्य, भूख और असुरक्षा की समस्याओ पर अन्तहीन बहसे हुई हैं और उन्हे सुलझाने के कई मोहक उपाय सुझाए और आजमाए गए। पूँजीवादी विकास का चमत्कार सिगापुर, ताइवान और दक्षिण कोरिया जैसे अपेक्षाकृत छोटे देशो मे देखा गया बडी जनसख्यावाले अन्य विकासशील देशो मे नहीं। साम्यवादी क्रान्ति का प्रयोग भी अन्तत असफल रहा, सोवियत सघ का विघटन हो गया, पूर्वी यूरोप के देश उसके प्रभाव-क्षेत्र से बाहर हो गए और चीन ने भी मँझधार मे महत्त्वपूर्ण नीति परिवर्तन किए। इन देशो ने भी मुक्त बाजार का तर्क स्वीकार किया, अपनी अर्थव्यवस्था का उदारीकरण किया और भूमण्डलीकरण की दिशा मे कदम बढाए। विकासशील देशो ने भी यही नीति अपनायी, पर उन्हे पग पग पर कठिनाइयो का सामना करना पडा। मैक्सिको के अर्थ तत्र को विकट वित्तीय सकट से गुजरना पडा आज भी यह निश्चित नहीं है कि विशाल ऋण उसे निकट भविष्य मे सीमित आत्मनिर्भरता दे सकेगा या नहीं। तीन चार वर्ष के अनुभव के बाद भारत अपनी विकास प्रक्रिया को अधिक मानवीय चेहरा देने पर पुनर्विचार कर रहा है। गरीबी और उससे जुडी समस्याओ के प्रति अधिक सवेदनशील हुए बिना न जनतत्र सम्भव है, न विकास।

विकास के प्रश्नो को सामान्यत अर्थशास्त्र की दृष्टि से देखा गया है। सकल राष्ट्रीय उत्पाद और राष्ट्रीय आय की वृद्धि को विकास मान लेना भ्रामक है। पिछले पाँच दशको मे विश्व की आय मे सात गुना वृद्धि हुई है, परन्तु राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर इसका वितरण बहुत असमान रहा है। मानवजाति के उच्च पचमाश को विश्व की आय के पाँच मे से चार भाग प्राप्त हैं। यह स्थिति उन्हे विकास के और भी अधिक अवसर देती है और उनका वर्चस्व स्थापित करती

है। इस सम्पन्न वर्ग की आय 1960 से 1991 के बीच विश्व की आय का 70% से बढ़कर 85% हो गयी। दूसरे शब्दो मे विश्व की शेष जनसख्या को ससार की आय का 1/5 भाग ही उपलब्ध है और उसका यह हिस्सा भी निरतर घट रहा है। ससार की सबसे गरीब 20% जनसख्या की आय का भाग 2 3 प्रतिशत से गिरकर 1 4 प्रतिशत ही रह गया। समृद्धि और गरीबी का असतुलन बढ रहा है।

बाजार का तर्क, उदारीकरण और भूमण्डलीकरण विकास के नए नारे बन गए और उनमे अन्तर्निहित मन्त्र-शक्ति द्वारा विकासशील देशो के कायाकल्प के कार्यक्रम बनाए जाने लगे। विकास की प्रक्रिया में उनका योगदान सीमित रहा है। अमेरिका म भी गरीबी का उन्मूलन नहीं हुआ है। वहाँ भी आवासहीनता है, सार्वजनिक स्वास्थ्य और शिक्षा की समस्याएँ हैं। इससे अधिक गम्भीर हैं पारिवारिक विघटन और सामाजिक सरोकारो के ह्रास की समस्याएँ। समाज में हिंसा बढ रही है, नैतिक मान्यताएँ स्खलित हो रही हैं, उपभोक्तावाद पनप रहा है। तेज गति के आर्थिक विकास के पास इनका उत्तर नहीं है। यूरोप मे ये सब सामाजिक विकृतियाँ तो हैं ही, वहाँ आर्थिक नीतियाँ भी बहुत सफल नहीं रहीं। यूरोपीय यूनियन के बारह देशो की पन्द्रह प्रतिशत जनता गरीबी की रेखा के नीचे के जीवन-स्तर पर है। वहाँ का 'रोजगारविहीन विकास' आश्चर्य और चिन्ता का विषय है।

स्पष्ट है कि विकास और आधुनिकीकरण के लिए आर्थिक वृद्धि ही पर्याप्त नहीं है। सास्कृतिक अस्मिता की अवहेलना तीव्र प्रतिक्रियाओ को जन्म देती है, विकास की प्रक्रिया परम्परा की ऊर्जा से लाभान्वित नहीं हो पाती। इसीलिए युनाइटेड नेशन्स के तत्त्वावधान मे विकास और सस्कृति के अन्तरावलम्बन पर गम्भीर विचार हो रहा है। मार्च 1995 मे कोपनहेगन मे हुए विश्व सामाजिक शिखर सम्मेलन मे गरीबी उन्मूलन और बेरोजगारी जैसे आर्थिक प्रश्नो के साथ सामाजिक एकीकरण का विराट् सास्कृतिक मुद्दा भी चर्चा के केन्द्र मे था। आर्थिक विकास के साथ सामाजिक विकास के बारे मे सोचना जरूरी है। कार्य-योजना के सास्कृतिक, मनोवैज्ञानिक और नैतिक आयाम भी महत्त्वपूर्ण होते हैं, उसके परिणामो का आकलन और मूल्याकन भी आवश्यक होता है। इस पुस्तक मे सतुलित रूप से विकास के सभी पक्षो पर विचार करने का यत्न किया गया है।

पिछले दो दशकों मे मैंने विकास के प्रश्नो पर निरन्तर विचार किया है और राष्ट्रीय तथा अतर्राष्ट्रीय मचो पर अपने विचार अभिव्यक्त किए हैं। मूलत अग्रेजी मे प्रस्तुत सामग्री के समायोजन और रूपान्तर मे प्रोफेसर गिरीश्वर मिश्र और डॉ श्यामनन्दन चौधरी ने मेरी सहायता की है, जिसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। विषय के विवेचन को यथासम्भव पूर्ण बनाने के लिए अग्रेजी की सामग्री का उपयोग सशोधन और सरलीकरण क साथ किया गया है, उसमे नयी चिन्तन-धाराओ का

समावेश किया गया है और तीन अध्याय स्वतन्त्र रूप से हिन्दी मे ही लिखे गए हैं। विभिन्न स्थानो पर पूर्व प्रकाशित कुछ सामग्री और उसके तर्क अनिवार्यत इस पुस्तक मे भी आए हैं परन्तु सवाद की आधुनिकतम स्थिनि की प्रस्तुति के लिए हिन्दी मे उसका पुनर्लेखन किया गया है। आशा है हिन्दी के सामान्य किन्तु विचारशील पाठक को यह सामग्री और विचार ग्राह्य होगे और उसकी स्वतत्र विचार प्रक्रिया को प्रोत्साहित भी करगे।

के के बिडला फाउन्डेशन ने इस पुस्तक को अपना प्रकाशन समर्थन देकर उसे सुन्दर और सस्ते रूप म सुलभ कराया है। मैं फाउन्डेशन का कृतज्ञ हूँ। श्री बिशन टण्डन इस पुस्तक के पकाशन की प्रमुख प्रेरणा रहे हैं और वाणी प्रकाशन के श्री अरुण माहेश्वरी ने उत्साहपूर्वक अपना उत्तग्दायित्व निभाया है। मैं दोनो का ऋणी हूँ।

पुस्तक अब आपके हाथो मे हे।

डी 504 पूर्वाशा
मयूर विहार I ि्ल्ली 110091

–**श्यामाचरण दुबे**

# अनुक्रम

# 1. परिवर्तन की प्रक्रिया

पृथ्वी पर जीवन के विभिन्न रूपो मे मानव अपेक्षाकृत नया है। यह माना जाता है कि जीवो के आद्य और अत्यन्त सरल रूपो का आरम्भ प्राय बीस लाख वर्ष पहले हुआ मानव का इतिहास इस काल मे केवल पचास हजार वर्ष का है। बडे वानरो की थोडी सी शाखाएँ वृक्षो से धरती पर आ गयी थी या कम से कम उनके जीवन का बडा भाग भूतल पर व्यतीत होने लगा था। इन मानव सम वानरो की कम से कम एक शाखा ने वाक्शक्ति का प्रारभिक रूप भी विकसित कर लिया था, जिसमे ध्वनियो ने कुछ शब्दो का रूप ले लिया था। धरती पर उतरे बडे वानर कन्दराओ मे रहने लगे थे। अस्त्र शस्त्र और औजार उन्होने नहीं बनाए थे पर वे पत्थर, हड्डी और लकडी का उपयोग हथियारो की तरह करने लगे थे। उन्होने आग जलाना शायद नहीं सीखा था, किन्तु वे प्राकृतिक कारणो से लगी आग के एक भाग का रूपातरण कर उसे प्रज्वलित रखना सीख गए थे। अग्नि से वे शीत और वन्य प्राणियो से सुरक्षा पाते थे शायद उसका उपयोग मास और कन्द, मूल आदि को भूनने मे भी करते थे। वे वनो और जलाशयो से खाद्य सग्रह करते थे। शस्त्रो के अभाव मे उनकी आखेट शक्ति सीमित थी। वे पारिवारिक झुण्डो मे रहते थे, जिनकी अनुमानित जनसख्या प्रति झुण्ड प्राय चालीस रही होगी।

प्राचीन पाषाण युग (अनुमानित काल पैंतीस हजार वर्ष पूर्व) भी सग्राहक ओर आखेटक स्थिति का था, फर्क सिर्फ इतना था कि इस काल मे मानव ने सामान्य प्रस्तर उपकरण और अस्त्र बनाना सीख लिया था। ये उपकरण ऊपरी तौर पर सामान्य पत्थरो जैसे ही दिखाई पडते थे पर उनके एक सिरे को आघात से तीक्ष्ण बना लिया जाता था। कटाई और छिलाई के लिए ये उपकरण बहुत उपयोगी सिद्ध हुए। लम्बी हड्डियो या लकडी मे लगाकर इन्हे आखेट मे उपयोगी शस्त्रो का स्वरूप भी दे दिया जाता था। इस तकनीकी विकास ने जीवन के ढाँचे

मे कोई मूलभूत परिवर्तन तो नहीं किया किन्तु जीवन यापन की विधि मे अधिक सुविधा दक्षता और कार्य क्षमता का प्रवेश कराया। प्राविधिक विकास का यह आरम्भिक स्तर था। इससे विकास अवरुद्ध नही हुआ नयी दिशाओ मे उसने उत्तरोत्तर प्रगति की और अन्तत मानव को खाद्य सग्राहक से खाद्य उत्पादक बना दिया। साथ ही अनेक छोटे छोटे आविष्कारो से जीवन के कई आयामो मे गुणात्मक परिवर्तन होने लगे। यह हुआ मध्य पाषाण युग मे, लगभग 12,000 वर्ष पहले। प्राचीन पाषाण युग का अन्त हो रहा था और नव पाषाण युग की क्रान्ति के आगमन की भूमि तैयार हो रही थी। इस काल की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति *थी मानव समूहो का जल मे प्राप्त खाद्य ससाधनो के निकट अपने आवास बनाना।* प्राचीन पाषाण युग का मानव यायावर था और शिकार की खोज मे एक बडे क्षेत्र म घूमता फिरता था। उसके कन्दराओ के निवास भी स्थायी नहीं होते थे। नदियो झीलो और समुद्र के पास उसने अपेक्षाकृत स्थायी आवास बनाए और बडे समूहो मे रहना आरम्भ किया। इन समूहो का आकार अब चालीस से बढकर साठ हो गया। पारिवारिक झुण्ड और आखेटक दलो के अतिरिक्त वह अन्य समूहो से भी सहयोग करने लगा। जल स्रोतो मे प्रचुर खाद्य सामग्री थी जिसे प्राप्त कर सकना आखेट या वनो से खाद्य सामग्री बटोरने की तुलना मे कम श्रमसाध्य था। अवकाश के समय का उपयोग उसने प्राविधिक सुधारो और नवाचारो मे लगाया। एक नयी क्रान्ति जन्म लेनेवाली थी। स्थिर और स्थायी निवास ग्रामीण समुदायो का रूप लेनेवाले थे। कृषि और औद्योगिकी का विकास होनेवाला था। मानव सग्राहक के स्थान पर उत्पादक बननेवाला था।

नव पाषाण युग का आरम्भ अनुमानत 9 000 से 11,000 वर्ष पहले हुआ था। वैज्ञानिक चमत्कारो के आज के युग मे इस काल की उपलब्धियाँ भले ही अतिसामान्य लगे, परन्तु यह सच है कि उनसे मानव जीवन के अनेक पक्ष प्रभावित हुए सामाजिक सरचना का स्वरूप बदला और मानसिकता तक मे गम्भीर परिवर्तन हुए। अब तक प्रस्तर उपकरण आघात और आशिक रूप से घर्षण से बनते थे, नव पाषाण युग मे पालिश किए हुए उपकरण बनने लगे जिनके उपयोग से विविध क्षेत्रा मे प्रगति सम्भव हुई। कृषि के औजार बने पहिए का आविष्कार हुआ स्थायी और काफी समय तक चल सकनेवाले घर बना सकना सम्भव हुआ और नए उपकरणो से वस्त्र निर्माण का भी आरम्भ हुआ। ये क्रातिकारी परिवर्तन थे। कृषि केवल औजारो से सम्भव नही थी यद्यपि उनके बिना उसके विकास मे कठिनाई होती। सबसे बडी बात यह थी कि हर प्रकार की वनस्पति के विकास मे मनुष्य ने धरती की उर्वरा शक्ति और सौर ऊर्जा की भूमिका को समझा तथा खाने के काम आ सकनेवाले पौधो और वृक्षो के अभिजनन और वश सुधार के महत्त्वपूर्ण प्रयोग किए। गेहूँ, बार्ली और चावल आद्य घासो से प्रयत्नपूर्वक विकसित किए

गए। पहले उनके दाने छोटे और हल्के होते थे नियोजित अभिजनन द्वारा धीरे धीरे उनका वश सुधार किया गया। खाद्य-आपूर्ति का एक नया स्रोत विकसित हुआ। पशु पालन के क्षेत्र मे भी ऐसे कई प्रयोग सफलतापूर्वक किए गए कुछ पालतू जानवर खेती म बहुत काम आए और आज भी आ रहे हैं। अन्य कुछ का उपयोग बोझा ढोने के लिए किया गया। कुछ पालतू जानवर दूध देते थे अन्य का मास खाया जाता था। मनुष्य अब स्थायी ग्रामो मे रहने लगा था उसे पक्के मकाना की जरूरत थी। पुरातात्विक उत्खनन से कुछ क्षेत्रो मे भूमिगत आवासो के प्रमाण मिले हैं। मकान धरती पर भी वनाए जाते थे। इन आवासो मे निवास की सुविधा के अतिरिक्त खाद्य भण्डारण शिल्प का उद्योग चलाने की जगह और पशुओ को रखने का प्रावधान भी किया जाने लगा। पहिए के आविष्कार से दो मुख्य लाभ हुए—आवागमन और माल ढोने मे सुविधा तथा मिट्टी के वर्तन बनाने की कला का विकास। हाथ गाडियाँ मनुष्य स्वय खींचता था परन्तु धीरे धीरे गाडियो म पशुशक्ति का प्रयाग होने लगा। अधिकाशत इनमे बैलो या घोडो का उपयोग किया गया हाथी और ऊँट गाडियाँ भी बनायी गयीं। कुम्हार के चाक से तरह तरह के मिट्टी के वर्तन बनाए जाने लगे। इन्हे आग मे पकाया जाता था। दैनिक जीवन मे उपयोगी घरेलू बर्तनो के अलावा भण्डारण के बडे बडे भाण्ड भी क्रमश बनाए जाने लगे। कई सस्कृतियो मे इन बर्तनो को तरह तरह से सजाया जाता था—उनमे कलात्मक डिजाइन उकेरकर अलग से आकृतियाँ अथवा पैटर्न बनाकर उन्हे बर्तनो पर चिपकाकर या उन्हे रँगकर। यायावर आखेटको के लिए ये बर्तन आवश्यक नहीं थे वे सुविधापूर्वक उन्हे एक स्थान से दूसरे स्थान पर नही ले जा सकते थे। उनके लिए टोकरे अधिक उपयोगी और सुविधाजनक थे। कुछ आधुनिक यायावर समूह अब मिट्टी के बर्तनो का उपयोग करने लगे हैं। इसके विपरीत कुछ ऐसे कृपक समाज भी हैं जिनम इनका प्रचलन नही है। इस युग मे वस्त्रा का उपयोग भी शुरू हुआ। सन और कपास खेती स प्राप्त होते थे, ऊन लम्बे बालोवाली भेडो से। वस्त्र इन्ही से वनाए जाते थे। नयी प्रविधि ने कताई के लिए तकुए और बुनाई के लिए करघे विकसित कर लिये थे। अमरीकी भू भाग मे नव प्रस्तर युग शेष ससार मे आने के काफी बाद आया। मध्य पूर्व मे कृषि आधारित गाँव ईसा पूर्व 7,000 से 9 000 तक विकसित हो गए थे, अमरीका मे दे ई पू 2,000 मे अस्तित्व मे आए। अमरीकी इडियन समूहो की अर्थ व्यवस्था नव पाषाण युग मे भी मूलत आखेट और खाद्य सकलन के स्तर की बनी रही, मौसम के अनुकूल होने पर वे मकई की खेती अवश्य कर लेते थे। धीरे धीरे तरह तरह क कद्दुओ ओर सेमो की खेती भी शुरू हुई। कुम्हार क चाक और बुनकर के करघे ने भी उनकी सस्कृति मे प्रवेश नही किया। ये ईसा पूर्व 1,000 मे आए। इसके पहले वे मिट्टी के बर्तन और वस्त्र आद्य तरीके से, विना किसी यात्रिक सहायता के,

बनाते रहे। दक्षिण अमरीका में कन्द श्रेणी की फसलें–आलू, सकरकन्द, मेनिओक–अधिक लोकप्रिय रहीं, यद्यपि मेक्सिको की कृषि पद्धति और फसलें भी वहाँ पहुँच गईं। वहाँ अल्पाका और यामा का पालन हुआ, जिनका ऊन उपयोगी पाया गया। पक्षियो मे यहाँ बदक पाली गईं।

सास्कृतिक विकास के क्रम मे आए मुख्य युगो के समय पर विचार करे। प्राचीन पाषाण युग का काल ईसा पूर्व 500,000 से 1,500,000 वर्ष था, नव पाषाण युग ऐतिहासिक समय के पहले 3,500 मे 7,500 तक था। ताम्र युग, जो वास्तव मे ताम्र-पाषाण युग था, ईसा पूर्व 4,500 से 3,000 वर्ष था। कास्य युग बेबीलोन मे ईसा पूर्व 2,500 से 3,500 तक और दक्षिण अमरीका के पेरू मे 500 1,000 ईसवी तक था। ताम्र युग और कास्य युग का इसी क्रम मे आना जरूरी नहीं, दोनो एक साथ आ सकते हैं, निर्दिष्ट क्रम बदल सकता है या दो मे से एक आए ही नही। लोह युग के चिह्न दूर-दूर तक मिलते हैं और यह ऐतिहासिक समय के 2,500 वर्ष पहले आरम्भ हो गया था। प्रत्येक युग मे मानव-समाजो का स्वरूप बदला और जीवन शैली मे गुणात्मक परिवर्तन हुए।

**समाज का बदलता स्वरूप** - पुरातात्विक अनुसन्धान के आधार पर सास्कृतिक और सामाजिक विकास के स्तरो पर सूक्ष्म विचार किया गया है और उनके क्रम-निर्धारण के वैज्ञानिक प्रयत्न किये गये हैं। तात्कालिक सन्दर्भ मे इन प्रयासो का उल्लेख और विश्लेपण प्रासगिक नही होगा। विकास की धारा के सात मुख्य पड़ावो की चर्चा पर्याप्त होगी। ये पडाव हैं

1 आखेटक और सग्राहक स्तर,
2 सरल औद्यानिक स्तर,
3 प्रगत औद्यानिक स्तर,
4 कृषि स्तर–सरल और प्रगत,
5 मत्स्य ग्रहण स्तर,
6 पशु पालक स्तर, और
7 सकर, समुद्रतटवर्ती, औद्योगिक और वर्गीकृत न किए जा सकनेवाले स्तर।

समकालीन समाज मे हमे इन सभी स्तरो के प्रतिनिधि देखने को मिल जाते हैं। जार्ज पीटर मर्डाक के एथनोग्राफिक एटलस मे 1966 तक उपलब्ध 915 समाजो पर तथ्यात्मक सामग्री प्रस्तुत की गयी है। यह सामग्री क्रमश 'एथनालाजी' नामक शोधपत्रिका मे छपी थी, इनमे 51 समाज आखेटक और सग्राहक स्तर के हैं, 76 सरल औद्यानिक स्तर के, 267 प्रगत औद्यानिक स्तर के, 96 कृषक स्तर के, 44 मत्स्य ग्रहण स्तर के और 60 पशु पालक स्तर के। सातवे स्तर मे विविध श्रेणियो के 221 समाजो को रखा गया है, जिनके सम्बन्ध मे या तो वर्गीकरण

का आधार सन्तोषजनक नहीं है या उन पर उपलब्ध सामग्री अपर्याप्त है। तथ्य की बात यह है कि कई समाजो का विकास किसी न किसी स्तर पर अवरुद्ध हो गया है और वे औद्योगीकरण की दौड़ में पिछड़ गए है। परम्परागत अर्थतंत्र उनके उत्पादन का सीमाकन करता है और उनके पास इतना अधिशेष नहीं रहता कि वे आधुनिक मानदण्डो के अनुरूप जीवन की गुणवत्ता मे सुधार ला सके।

उपर्युक्त स्तरो मे समुदाय और समाज के आकार को समझना आवश्यक है आकार में उनकी ऊर्जा और रचनात्मक क्षमता की सम्भावनाए अन्तर्निहित होती हैं। आखेटक और संग्राहक समूहो में 'समुदाय' और समाज में अन्तर नहीं होता दोनो की माध्यिका (मीडियन) आकार प्राय चालीस सदस्यो का होता है। सरल औद्योगिक स्तर पर दोनो की सख्या 95 हो जाती है। प्रगत औद्योगिक स्तर पर समुदाय लगभग 280 का और समाज 5 800 सदस्यो का होता है। कृषि स्तर पर समुदाय का आकार छोटा बड़ा हो सकता है पर समाज की जनसख्या एक लाख या उससे अधिक भी हो सकती है। मत्स्य ग्रहण स्तर पर समुदाय और समाज दोनो का आकार प्राय 00 का होता है। पशु पालक स्तर पर समुदाय का आकार 55 और समाज का आकार 2 000 सदस्यो का होता है। सातवे स्तर के अन्तर्गत आनेवाले समुदायो और समाजो की सख्या का अनुमान कर सकना कठिन है क्योकि यह वास्तव में एक स्तर है ही नही। इसमे विविध प्रकार के अवशिष्ट समूहो को एक साथ रख दिया गया है। आखेटक और संग्राहक औद्योगिक तथा कृषि स्तरो पर समाज का एक भाग यायावर होता है जिनमे 90% आखेटक और संग्राहक समूहो के होते है और केवल 4% अन्य दो स्तरो के। इनके स्थायी निवास नहीं होते। पशु पालको का एक भाग भी यायावर होता है पर इनके स्थायी घर होते है जहाँ वे वर्ष में कम से कम एक बार लौटते हैं। शिल्प कौशल की विविधता और विशेषज्ञता आखेटक और संग्राहक सरल औद्योगिक स्तर और मत्स्य ग्रहण स्तरो में बहुत कम होती है शेष में कही अधिक और औद्योगिक स्तर में सबसे अधिक। अवकाश प्रगत औद्योगिक कृषि और औद्योगिक स्तरो में सबसे अधिक होता है। उनमे खाद्य अधिशेष की मात्रा पर्याप्त होने के कारण उनका एक भाग अवकाश का उपभोग कर सकता है और परिस्थितियाँ अनुकूल होने पर अपनी ऊर्जा को सृजनात्मक रख दे सकता है। कला और विज्ञान ऐसे ही प्रयत्नो से विशेष दिशाएँ पाते है और विकसित होते है।

परिवर्तन की प्रक्रिया में चार प्रकार के परिणाम सम्भव हैं सामाजिक-सांस्कृतिक निरन्तरता सामाजिक सांस्कृतिक परिसमाप्ति सामाजिक सांस्कृतिक नवाचार एव नवीनीकरण और सामाजिक सांस्कृतिक विकास। सांस्कृतिक धारा के मूल तत्त्वो का नैरन्तर्य सम्भव है परन्तु उनमे भी पर्यावरण में परिवर्तन और नए सामाजिक

दबावो के कारण धीमी गति से परिवर्तन होते रहते हैं।

समुदायो और समाजो की पूर्ण समाप्ति तभी होती है जब उनका भौतिक अस्तित्व ही समाप्त हो जाए जैसा तस्मानिया के मूल समाज मे हुआ। सामाजिक सास्कृतिक परिसमाप्ति तब होती है जब लक्ष्य, मूल्य, साधन और सस्थाएँ पूरी तरह से बदल जाएँ। ऐसी स्थिति मे भी आदि सस्कृति के कुछ तत्त्व लुके छिपे अवशिष्ट रहते हैं और विशेष परिस्थितियो मे अपने आपको अभिव्यक्त करते हैं। बदलते प्राकृतिक और सास्कृतिक पर्यावरण से अनुकूलन के लिए नवाचार आवश्यक होते हैं। ये व्यवहृत विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्रो म हो सकते हैं, सामाजिक पुनर्रचना अथवा प्रशासन और प्रबधन के क्षेत्रो मे भी। सामाजिक सास्कृतिक विकास के आवश्यक तत्त्व होते हैं सास्कृतिक आधारभूमि की उपस्थिति, नवाचार, खोज और आविष्कारो की एसी गति जिससे आज और आनेवाले कल की समस्याओ के समाधान पाए जा सके, और सामाजिक सास्कृतिक गत्यात्मकता, जो सामाजिक सरचना और सास्कृतिक मूल्य विधान को इन परिवर्तनो के अनुरूप ढाल सके। विकास अपनी स्वाभाविक गति से हो सकता है और नियोजित हस्तक्षेप द्वारा परिवर्तन की गति बढा कर भी। विकास और आधुनिकीकरण की कार्य सूची परिवर्तन की ऐतिहासिक धारा मे सार्थक हस्तक्षेप की द्योतक होती है।

**परिवर्तन के कारण** · परिवर्तन क्यो होता है ? इस प्रश्न पर अनेक दृष्टियो से विचार किया गया है। कुछ उत्तर जो पहले सन्तोषजनक माने गए थे, अब अपर्याप्त माने जाते हैं। **प्रजातिवादी सिद्धान्त** के अनुसार परिवर्तन और प्रगति की दौड म कुछ प्रजातियाँ आगे निकल जाती हैं और कुछ पिछड जाती हैं, यह उनकी असमान जैविकीय क्षमताओ के कारण होता है। इस दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि मे जातीय अह और राजनीति ही होते हैं, कोई वैज्ञानिक आधार नहीं।

**भूगोलवादी सिद्धान्त** के अनुसार पर्यावरण और जलवायु, परिवर्तन की दिशा और गति को महत्त्वपूर्ण ढग से प्रभावित करते हैं। यह एक सीमा तक सच है परन्तु यह भी सच है कि ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ प्रतिकूल परिस्थितियो मे परिवर्तन और विकास हुआ है और अनुकूल परिस्थितियो मे ह्रास। मानव प्रकृति से बहुत कुछ ग्रहण अवश्य करता है, परन्तु अपनी क्षमताओ से वह उसे बदल भी सकता है। इतिहास और सामाजिक विज्ञानो के विकास के आरम्भिक दौर मे महान् पुरुष सिद्धान्त प्रक्षेपित किया गया था, जो अति सृजनशील क्षमताओवाले एक अत्यन्त अल्पसख्यक समूह के व्यक्तियो को विराट् परिवर्तनो का श्रेय देता था। इतिहास पुरुषो का महत्त्व असन्दिग्ध है, परन्तु उन्हे दिए जानेवाले श्रेय का एक बडा भाग दूसरो को भी मिलना चाहिए। हर बडे आविष्कार या खोज की जडो मे पूर्व अर्जित ज्ञान और विचारो का एक बडा भण्डार होता है। कुछ सामाजिक पर्यावरण नवाचारो को प्रेरित और पुरस्कृत करते हैं, कुछ उनकी स्वीकृति मे अवरोधक होते हैं।

लोकव्यापी समर्थन के बिना महान् पुरुष अपना विराट् आकार पा ही नही सकते।

भूमण्डल ने अनेक प्राकृतिक विशेषकर जलवायु के परिवर्तन देखे हैं जिनके कारण बडी मात्रा मे जनसख्या का स्थानान्तरण हुआ है। यह स्थानान्तरण अपने साथ अनुकूलन और परिवर्तन की बडी चुनौतिया लाया है। इस कारण *जीवन के स्वरूप मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए है। भविष्य मे भी ऐसे परिवर्तन आ* सकते है। वायुमण्डल मे ओजोन की परते फट रही हैं हरित गृह प्रभाव (ग्रीन हाउस इफेक्ट) बढ रहा है। यदि इस पर नियत्रण नही रखा गया तो समुद्र का जलस्तर बढकर अनेक द्वीपो और तटीय क्षेत्रो म विनाशकारी जल प्लावन हो सकता है। यहा की जनसख्या को अन्यत्र शरण लेनी होगी और नए सिरे स अपनी जिन्दगी शुरू करनी पडेगी। मानव की अदूरदर्शी नीतियो ने ऐसे अनेक सकटो को जन्म दिया है ओर आज भी दे रही है। साथ ही यह भी ध्यान मे रखना आवश्यक है कि मानव म ऐसे सकटो का मुकाबला कर सकने की क्षमता भी है।

जनसख्या के घनत्व की भी परिवर्तन की प्रक्रिया मे महत्त्वपूर्ण भूमिका है। आज से प्राय दस हजार वर्ष पहले मानव ने तेज गति से अपनी प्रगति यात्रा आरम्भ की। उस समय ससार की जनसख्या अनुमानत पचास लाख थी। सन् 1650 मे यह बढकर पचास करोड हो गयी। तीव्र गति से बढती हुई 1850 मे यह सौ करोड तक पहुच गयी ओर 1976 मे यह लगभग चार सौ करोड हो गयी। प्रतिवर्ष इसमे नौ करोड की वृद्धि होती है। आज विश्व की आबादी 570 करोड है। विशेषज्ञो के पूर्वानुमान के अनुसार इक्कीसवी सदी के पहले पच्चीस वर्षो के अन्त तक यह 850 करोड हो जाएगी। जनसख्या के इस बढते घनत्व ने हर मोड पर परिवर्तन को प्रेरित किया है। प्रश्न केवल अस्तित्व की रक्षा का नही रहा है जीवन यापन के मान्य मानवीय स्तर का भी रहा है।

सास्कृतिक सम्पर्क व्यापार युद्ध और विजय के बाद वर्चस्व की स्थापना भी परिवर्तन के मुख्य कारण रहे हैं। सस्कृतियाँ एक दूसरे से सीखती हैं उनमे आदान प्रदान होता है। महत्त्वपूर्ण नवप्रयोग एक या दो केन्द्रो मे आरम्भ होकर धीरे धीरे शेष ससार मे फैल जाते हैं। व्यापार के माध्यम स सास्कृतिक प्रभावो का विस्तार होता है। पुरातात्विक उत्खननो मे रोम की सामग्री मिली है और रोम के सस्कृति क्षेत्र मे भारतीय उत्पादनो की। चीन से कागज रेशम और बारूद का उपयोग दूर दूर तक फैला। युद्ध और उसके परिणाम भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तनो के कारण सिद्ध होते हैं। विजयी सस्कृति विजित सस्कृति को प्रभावित करती है ओर स्वय भी उससे प्रभावित होती है।

ज्ञान विज्ञान और उनके अनुप्रयुक्त रूप परिवर्तन को सम्भव बनाने की अनिवार्य आवश्यकता हैं। इनके माध्यम से मानव समुदाय अपने जीवन की आवश्यक कलाओ और न्यूनताओ की पूर्ति करता है और उपलब्ध साधनो से

अधिक सक्षम और सार्थक विकल्पो की तलाश करता है। जीवन की गुणवत्ता को सुधारने मे इनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है यद्यपि कभी कभी मानव के दुराग्रहो ने इन्हे गलत दिशा देकर निर्माण के स्थान पर विनाश का वाहक भी बनाया है।

**विकास और विश्व-व्यवस्था** विकास का उपक्रम उत्तर-औपनिवेशिक काल का एक सृजनात्मक अध्याय माना जाता है जिसकी शुरुआत दूसरे विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद हुई। यह सच है कि वैश्विक एजेन्डा पर यह इसी काल मे आया और शीघ्र ही इसने एक अन्तर्राष्ट्रीय उद्योग का रूप ले लिया। विकास की प्रक्रिया को उसकी समग्र जटिलता मे समझने के लिए हमे पन्द्रहवीं सदी के अन्त और सोलहवी सदी के आरम्भ की उन स्थितियो का विश्लेषण करना होगा जिनमे एक नयी विश्व व्यवस्था का उदय हुआ और अन्तत जिसमे विकास की दिशा और गति का निर्धारण हुआ। वस्तुत उत्तर (नार्थ) और दक्षिण (साउथ) विश्व के विकसित और अविकसित भाग इसी काल म अस्तित्व मे आए विकसित भाग मे शक्तिशाली केन्द्र उभरे जिन्होने अपनी परिधियो का निरन्तर विस्तार आरम्भ किया और उनमे आनेवाली अर्थ व्यवस्थाओ पर अपना शिकजा कसा। तब से विकास की प्रक्रिया ने भिन्न भिन्न ऐतिहासिक पथो का अनुसरण किया है और अनेक प्रकार के निर्धारको ने उसके स्वरूप का निर्माण किया है। इसके प्रक्षेप पथ और उससे जनित अभिकल्प और परिरूप पारिस्थितिक और भौगोलिक निर्धारको प्रभुत्व और पराधीनता की अन्योन्य प्रतिक्रिया और सास्कृतिक सम्भववाद से निर्मित होते हैं। इतिहास मे ऐसे हस्तक्षेप *कहीं विकास को गतिमान बनाते हैं कही उसे अवरुद्ध करते हैं।*

एमेनुएल वालेरस्टाइन के अनुसार पूँजीवादी विश्व अर्थ व्यवस्था की स्थापना की तीन शर्ते होती हैं–विश्व के भौगोलिक आकार मे वृद्धि विश्व अर्थ व्यवस्था के विभिन्न कटिबन्धो मे विभिन्न उत्पादो मे श्रम नियन्त्रण की बहुवर्णी विधियाँ और पूँजीवादी वैश्विक अर्थव्यवस्था के केन्द्रीय राज्यो मे सशक्त तन्त्रो का निर्माण। क्रिस्टोफर कोलम्बस और वास्को डि गामा जैसे साहसिक खोजियो ने राज्यसत्ता और नयी प्रौद्योगिकी की सहायता से ससार के नए नए भागो की खोज कर और उन्हे ज्ञात विश्व से जोडकर विश्व के आकार को बढाया। अपनी खोजो के लिए उन्हे बहुत सम्मान मिला। साथ ही उनकी इन खोजो के कुछ अनपेक्षित परिणाम भी सामने आए। उनसे इतिहास के प्रवाह की दिशा ही बदल गयी। विजयी और विजितो के सम्बन्धो की नयी व्याख्याएँ स्थापित हुईं और वैश्विक धरातल पर दासता के नए प्रतिरूप उभरे। कोलम्बस ने जिस भाग की पुनर्खोज की थी वहाँ के मूल निवासियो का बडी मात्रा मे सहार किया गया उनकी पारम्परिक सस्थाएँ विनष्ट हुईं उनकी श्रमशक्ति का ह्रास हुआ और वहाँ एक नया आर्थिक और राजनीतिक ढाँचा अस्तित्व मे आया। वे व्यवस्था की परिधि

की आर धवेल दिए गए। बाद म ने गुलमा क रूप मे वहाँ आए उनकी स्थिति भी हमशा व्यवस्था के हाशिए पर रही। उनके प्रति विभेद की नीति मूलत प्रजाति क आधार पर अपनायी गया थी। उनके आत्मगौरव को गहरी चोट पहुची और उनकी अर्थ व्यवस्थाएँ छिन्न भिन्न हो गयीं। ये परिधिया बाद म समुद्र पार पहुँचीं और अपने केन्द्र की अन्य परिधिया से जुड गयी। उपनिवेशवादी शक्तियो मे कभी सघर्ष हाता था कभी सहयाग विश्व के अधिकाश भाग को उन्हान अपने प्रभाव क्षेत्रो म बाट लिया। वास्को डि गामा दुनिया के जिस भाग म गया उसका कुछ परिचय शेष ससार को था अपने मसालो मलमल सुगधि आर रत्ना के लिए उसकी ख्याति थी। वास्को डि गामा ने ससार क इस भाग को पश्चिम क अन्त प्रवेश के लिए खोल दिया। पश्चिम मे हो रहे औद्योगीकरण मे इस भाग की भूमिका सुनिश्चित कर दी गयी। यह दोहरी भूमिका थी। वे कच्चे माल क स्रोत थे और औद्योगिक उत्पादन के लिए बाजार। इस प्रक्रिया म नए श्रमिक वर्ग का विकास हुआ और उन पर नियत्रण रखने के नए तरीके विकसित किए गए। भारत मे नील जूट और अफीम की खेती का उदाहरण लीजिए। इनम पहले दो औद्योगीकरण के लिए जरूरी थे। अफीम के औषधीय उपयाग भी थे परन्तु इसका निर्यात शुद्ध लाभ के लिए हुआ–परिणामा की चिन्ता किए बिना। औद्योगिक उत्पादनो के आयात ने घरलू हस्तशिल्प को जर्जर कर दिया पश्चिम से आयातित उत्पादना मे विषम प्रतिस्पर्धा म वे टिक नहीं सके। अर्थतत्र का झुकाव पश्चिम की ओर हुआ। स्थानीय श्रमशक्ति का शोषण भी बढा। पश्चिम के व्यापारिक और राजनीतिक हितो न इन देशा के शासका और उच्चस्तरीय प्रवर्ग–एलीट–से साँठ गाँठ कर उन्हे पूँजीवादी विश्व व्यवस्था म खींच लिया। उपनिवेशवाद ने कमजोर और आज्ञाकारी छोटे बडे राज्यो को चलने दिया क्योकि वे पश्चिम के आधिपत्य का चुनौती नही दे सकते थ। ये भाग परिधि म आ गए परन्तु उनमे भी आधीन केन्द्र विकसित हुए जो स्वय अपनी परिधिया का नियत्रण कर उनका शोषण करते थे। इन परिधिया के शोषित और वचित समूह स्वाधीनता की अर्धशताब्दी के बाद भी उत्पीडन के चिह्ना को धुला नहीं पाए है। उनकी दासता क कुछ बधन आज भी शेष हैं।

विश्व का दो तिहाई भाग दोहरी अपगता का शिकार है। देश परिधि पर होने क कारण आर्थिक और राजनीतिक रूप से नियत्रित हैं। उनमे कई बडे बडे वचित समूह हैं जिन्हे सामाजिक और आर्थिक सरचना ने परावलम्बी बना दिया है। विकास की प्रक्रिया से इन समूहा का बहुत कम लाभ मिला है। सच तो यह है कि विकास की प्रक्रिया उन्हे और भी पगु बना रही है। विकास की धारा से छूटे हुए ये लाग जो विपन्न थे अब और भी विपन्न हो रहे है।

पराजय की विरासत द्वारा जनित विरूपण न विश्व व्यवस्था म देशा के बीच

असममित सम्बन्ध विकसित कर दिए। विश्वसत्ता के केन्द्र निश्चित रूप से प्रभुता की स्थिति मे हैं, उनका प्रभाव केवल राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रो तक ही नही है, उनका सास्कृतिक वर्चस्व भी निरन्तर फैला है। परिधि के केन्द्रो का शोषण तो होता ही है पर उन्हे नियत्रित करनेवाले विश्व व्यवस्था के केन्द्रो के समर्थन से ये परिधि के केन्द्र अपने अशक्त और विपन्न वर्गों का शोषण करते हैं। इस तरह उनका दोहरा शोषण होता है–विश्वसत्ता के केन्द्रो से और परिधि के केन्द्रो से भी। पूँजीवादी व्यवस्था ने उन्हे सम्मोहक आश्वासन अधिक दिए हैं, प्रत्यक्ष लाभ बहुत कम। साम्यवादी व्यवस्थाओ ने सामाजिक न्याय की दिशा मे कुछ बेहतर परिणाम दिए, पर उनके अपने अन्तर्द्वन्द्व थे और वे आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उत्पादन बढाने मे असमर्थ रही। वे स्वय अब पूँजीवादी व्यवस्था और उसके अनुदानो की ओर ललचायी निगाहो से देख रही हैं। उनके हाथ मे भी भिक्षा पात्र है।

आज भी विश्व व्यवस्था मे गहरी और चौडी दरारे हैं। अपनी सामरिक और आर्थिक शक्ति से कुछ देश शेष ससार पर अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील हैं। ऐसे देशो मे अभी एक सीमा तक सहयोग है, कल उनमे प्रतिस्पर्धा भी हो सकती है। आश्रित देश कडी शर्तो पर सहायता और ऋण लेने के लिए मजबूर हैं। इनमे से कुछ शर्तें उच्च सिद्धान्तो के आधार पर लगायी जाती हैं, जैसे मानवाधिकार सरक्षण, पर्यावरण प्रदूषण पर नियत्रण, बौद्धिक सम्पदा-अधिकार की स्वीकृति आदि। दुर्बल अर्थ व्यवस्थाएँ अभी इनका भार वहन कर सकने मे समर्थ नहीं हैं वे धीरे धीरे ही उन्हे स्वीकार कर सकती हैं। खुले बाजार के तर्क और भूमण्डलीकरण के कुछ परिणाम विकासशील देशो की व्यवस्था को डगमगा देते हैं। उनसे कुछ अनावश्यक और महँगे उत्पादनो का प्रसार बढता है। उदाहरण के लिए आलू के चिप्स ठडे पेय और आइसक्रीम जैसी चीजो के नए विदेशी ब्राड आते हैं और देशी उत्पादो को बाहर खदेड देते हैं। विदेशी फास्ट फूड सक्रामक बीमारी की तरह फैलते हैं। पोषण के रूप मे इनकी गुणवत्ता सन्दिग्ध है। फैशन के रूप मे इनका प्रचार और प्रसार समाज के उस वर्ग मे अधिक होता है जिसके आर्थिक ससाधन अत्यन्त सीमित होते हैं। नए सचार माध्यम अपने रग बिरगे विज्ञापनो से उन्हे लुभाते हैं और वे नए सौन्दर्य प्रसाधनो, डिजाइनर वस्त्रो और विलासिता की अन्य वस्तुओ की ओर खिचे चले आते हैं। उत्पादन समाज के लिए होना चाहिए पर आज की स्थिति मे मनुष्य उत्पादन और उत्पादो के लिए समर्पित होता जा रहा है। खुले आकाश की नीति ने दूर सचार माध्यमो को खुली छूट देकर गहरा सास्कृतिक सकट उत्पन्न कर दिया है पराधीन और आश्रित समाज अपनी सास्कृतिक अस्मिता खो रहे हैं उनकी देशज सृजनात्मकता ही विनष्ट हो रही है। उनकी पराश्रयता दिन ब दिन बढती जा रही है।

निकट भविष्य मे इस स्थिति के बदलने की सम्भावना बहुत कम है। विकसित

और विकासशील देशो के बीच असममित सम्बन्ध शायद अगले कई दशको तक चले। ऋण दाताओ की सख्या कम है उनके साधन असीमित नहीं हैं और उनकी अर्थ व्यवस्था मे उतार चढाव आते रहते हैं। इसके विपरीत ऋण माँगनेवाले देशो की सख्या वढी है भूतपूर्व सोवियत सघ और अन्य साम्यवादी देश भी इस कतार म खडे हैं। नए वर्चस्ववाद का आधार राजतत्र नही अर्थतत्र है। विश्वबैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष का सचालन अदृश्य सूत्र करते हैं सूत्रधार कौन है यह छिपा नही है। युनाइटेड नेशस और यूनेस्को जैसी सस्थाएँ पूरी स्वायत्तता तव तक नहीं पा सकती जब तक वे आर्थिक अनुदान के लिए एक देश और उसके निकट सहयोगियो पर अवलवित हैं।

सम सामयिक विश्व व्यवस्था मे अनेक विडम्वनाएँ हैं। मुक्त वाजार वास्तव मे मुक्त नही है उस पर एक महा शक्ति और उसके सहयोगियो का वर्चस्व है। यह समूह अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ पर नियत्रण रखता है और व्यापार नीतियो मे फेर बदल कर सकता है। प्रजातन्त्र मानवाधिकार और निरस्त्रीकरण के आदेश उस समय भुला दिए जाते हैं जब सामरिक सहायता और आयुधो के विक्रय का प्रश्न आता है। इस लाभ के धन्धे को छोडा नहीं जा सकता। प्रायोजित सशस्त्र आन्दोलन एक ओर अस्त्र शस्त्रो की बिक्री बढाते हैं दूसरी ओर वे असुविधाजनक राज्यो मे अस्थिरता बढाकर असुरक्षा की भावना उत्पन्न करते हैं। आश्रित अर्थ व्यवस्थाओं को वर्चस्ववादी शक्तियो का एक इशारा हिला सकता है। इस स्थिति मे स्वावलम्बन की नीतियो का पूर्ण परित्याग खतरनाक हो सकता है। तीसरे विश्व के देश आपसी सहयोग और सहायता बढाकर आशिक रूप से पराश्रय से बच सकते हैं। ससार के इस भाग के बाजार का आकार भी उसकी शक्ति प्रमाणित कर सकता है यदि वह अनुचित दबावो का सशक्त प्रतिरोध कर सके।

**नियोजित परिवर्तन** मनुष्य अपने और अपने परिवार के भविष्य के लिए प्रावधान करता है। उसकी इच्छा रहती है कि वह आजीविका के लिए पर्याप्त ससाधन जुटा ले और यदि हो सक तो धरोहर मे अपने प्रिय जनो के लिए सुख सुविधा के कुछ साधन भी छोड जाए। ऐसा कर सकने के लिए वह बचत करता है और सम्भव हुआ तो इस बचत का निवेश कर लाभ कमाना चाहता है। इस प्रक्रिया से उसके ससाधनो मे वृद्धि होती है और वह अपेक्षित लक्ष्यो को पा सकता है। इसे हम नियोजन का आरम्भिक रूप मान सकते हैं। समुदाय भी कुछ सार्वजनिक सुविधाएँ अपने सामूहिक प्रयत्नो से जुटाते हैं–पानी के लिए कुएँ बावडी और तालाब आराधना स्थल अतिथि निवास (सराय धर्मशाला) आदि। राज्य भी कुछ बडी योजनाएँ अलग-अलग चरणो म पूरी करते थे जैसे देश के भिन्न भिन्न भागो को जोडनेवाले मार्ग जल सचय के लिए बडे बाँध और जलाशय नहरो की शृखलाएँ दुर्भिक्ष के समय उपयोग के लिए अन्न भण्डारण की विशाल

कोठियाँ आदि। ये उदाहरण सीमित नियोजन के हैं।

समग्र विकास की विराट् योजनाओ का आरम्भ सोवियत क्रान्ति के बाद हुआ। सोवियत सघ ने कृषि उद्योग सार्वजनिक यातायात, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि को नियोजन के दायरे मे लिया और सीमित समयावधि मे निर्धारित लक्ष्य प्राप्त करने की महत्त्वाकाक्षी योजनाएँ बनाईं। बाद मे सोवियत सघ के प्रभाव क्षेत्र के देशो और चीन मे यही प्रक्रिया अपनायी गई और कठोर अनुशासन के पर्यावरण मे विकास योजनाओ का कार्यान्वयन करने के प्रयत्न हुए। दूसरे महायुद्ध के बाद कई नवस्वतन्त्र देशो ने भी नियोजित विकास का मार्ग अपनाया, जिसकी पृष्ठभूमि मे आशिक रूप से सोवियत प्रयोग की प्रेरणा थी। कुछ देशो मे विशेष कर आफ्रिका मे एक दलीय प्रजातन्त्र की राज्य व्यवस्था स्वीकार की गयी जिसमे विकास योजनाओ को पूरा करने के लिए अपेक्षाकृत कठोर अनुशासन सम्भव था। भारत ने प्रजातानिक ढाँचे के भीतर नियाजित विकास के प्रयत्न किए। यहाँ मिश्रित अर्थ व्यवस्था अपनायी गयी जिसके अन्तर्गत कुछ भागो का केन्द्रीय नियोजन होता था और कुछ भाग निजी उद्यमियो के लिए खुले छोडे गए थे। सहकारिता और सहभागिता पर जोर दिया गया था शासकीय दबाव नहीं था। सोवियत शैली मे श्रम शक्ति पर अकुश रख सकना भी यहाँ सम्भव नहीं था। तीसरी दुनिया के देशो को नियोजित विकास से बडी बडी आशाएँ थीं जिनका एक छोटा अश ही पूरा हो सका।

नियोजित परिवर्तन न कोई मन्त्र है और न जादू की छडी। यह एक अत्यन्त जटिल और सवेदनशील प्रक्रिया है, जिस पर निरन्तर दृष्टि रखना आवश्यक है। उसकी सफलता की कई शर्तें हैं। विकास के लिए 'राष्ट्र' का भी निर्माण होना चाहिए जिससे छोटी बडी उप राष्ट्रीयताएँ, प्रजातीय साम्प्रदायिक, क्षेत्रीय और भाषायी–राष्ट्रीय समाकलन के मार्ग मे अवरोधक न बने। फिर सास्थानिक ढाँचा ऐसा हो कि वह वैकासिक लक्ष्यो की प्राप्ति मे सहायक हो। पुरानी सस्थाओ का पुनर्अनुस्थापन किया जा सकता है, नयी सस्थाएँ भी बनाई जा सकती हैं। यह काम आसान नहीं है। राजनीति और सार्वजनिक सेवाओ की पारदर्शिता और स्वच्छता भी जरूरी है। भ्रष्टाचार दिशाभ्रम उत्पन्न करता है और विकास के लाभो के एक बडे अश को हडप लेता है। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि विकास की प्रक्रिया और स्थापित आस्थाओ और सास्कृतिक मूल्यो मे टकराव न हो। सबसे महत्त्वपूर्ण है विकास के लक्ष्या का निर्धारण। उत्पादकता बढाना अनिवार्य है पर उसका वितरण सामाजिक न्याय की उपेक्षा नहीं कर सकता। तीसरी दुनिया के देश इन शर्तो को पूरा नहीं कर सके इसलिए उनके विकास की गति मन्द रही और उन्हे नित्य नयी उलझनो का सामना करना पडा। प्रतिकूल परिस्थितियो के चक्रव्यूह को तोडने के लिए नयी समझ और रण योजना आवश्यक है।

## 2. आधुनिकीकरण तथा विकास की दुविधाएँ

मानव की स्थिति और नियति के बारे मे आजकल जो वहस हो रही है उसम **आधुनिकीकरण** और **विकास** दा वीज शब्द बन गये हैं। भिन्न बौद्धिक इतिहास होने पर भी लक्ष्या को पुनर्परिभाषित करन और वैचारिक पृष्ठभूमि तथा अध्ययन विधि दोना ही दृष्टियो स एक दूसरे स अधिक मेल खान के कारण अब ये वास्तविक अर्थ म एक दूसरे क अधिक निकट भी आ गये हैं। दोनो की तीन सन्दर्भ बिन्दुओ म साझेदारी है। प्रथम ये समाज की स्थिति की ओर इगित करते हैं। आधुनिकीकरण को माननेवाले विचारक **परम्परागत, सक्रमणकालिक** तथा **आधुनिकीकृत** समाजा मे भेद करते हैं। दूसरी ओर विकास की अवधारणा माननेवाले विचारक **अविकसित, विकासशील** और **विकसित** समाजो की चर्चा करते हैं। दूसरे दोनो ही ऐसे लक्ष्यो को रेखाकित करते हैं जो आधुनिकीकरण या विकास के आदर्श कार्यक्रमो की एक रूपरेखा सामने रखते हैं। तीसरे दोनो ही अवधारणाएँ एक प्रक्रिया की ओर सकत करती हैं-परम्परा स आधुनिकता की ओर या अविकसित स्थिति से विकास की दिशा मे आगे बढना। समाजा की स्थिति को निर्धारित करनेवाले मानदण्ड वैचारिक मूल्यो से आक्रान्त होते हैं क्योकि वे अधिकाशत सकल राष्ट्रीय उत्पाद (जी एन पी) की मात्रा तथा औद्योगीकरण की अवस्था को ध्यान मे रखते हैं। ये मानदण्ड लक्ष्यो की सूची पर भी लागू होते हैं विकासशील समाजा की आखे ऊँचे लक्ष्यो पर थी विकासशील देशो ने विकास की अवधारणावाले विचारको की इस स्थापना को वेहिचक अपना लिया कि अच्छी जिन्दगी की शुरुआत 1 000 डालर प्रति व्यक्ति पर होती है' और अब उन्होने रॉस्टोव जैसे व्यावहारिक अर्थशास्त्री की इस अवधारणा को भी बेझिझक स्वीकार कर लिया कि विकास की कसौटी 'हर चार व्यक्ति पर एक मोटरकार है। पिछले तीन दशको म हुए अनुभव से मिले ज्ञान के कारण लक्ष्यो को तय करने मे अधिक यथार्थवाद आया और अब करीब करीब मूल आवश्यकताओ की पूर्ति और जीवन

की गुणवत्ता को क्रमिक ढग से ऊपर उठाने को लक्ष्य मान लिया गया है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की जटिलता एव उसकी अन्तर्निहित कठिनाइयाँ अब अधिक ठीक ढग से समझ ली गयी हैं और उनका मूल्याकन किया गया है। अब ऐसे सरल रैखिक सिद्धान्तो पर, जो आधुनिकता या विकास के अनिवार्य चरणो और सोपानो की बात करते हैं, लोगो का पहले जैसा विश्वास नहीं रहा। आधुनिकीकरण और आर्थिक वृद्धि विकास की ओर ले जानेवाली प्रक्रियाओ के सैद्धान्तिक मॉडल मे महत्त्वपूर्ण सशोधन किये जा चुके हैं। व्यवहार विज्ञानो से उपजा आधुनिकीकरण का अन्तःशास्त्रीय प्रारूप आर्थिक पक्षो का अच्छा निरूपण करता है। फलत *विकास का अर्थशास्त्र अब विकास के व्यावहारिक और सस्थागत* पहलुओ के प्रति अधिक सवेदनशील हो चला है।

फिर भी अभी तक दोनो ही अवधारणाएँ एकाकार नही हो सकी हैं। अर्थगत भद बने हुए हैं और इनके कई महत्त्वपूर्ण पहलू और वरीयताएँ भी अलग-अलग हैं। पर इस बात के बडे स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं कि ये अवधारणाएँ एक दूसरे के निकट आ रही हैं और इनमे अन्तर्निहित विचारो का एक दूसरे पर प्रभाव पड रहा है।

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया मे मानसिक अभिवृत्तियाँ तथा सस्थागत सरचनाएँ मूल तत्त्व होती हैं। जेम्स ओकोनेल (1976, पृ 17) ने आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के मर्म की उपयुक्त अभिव्यक्ति की है। उन्होने इसे **सृजनात्मक समझदारी** या **विवेक** कहा है। नवाचार तथा व्यवस्था की अवधारणाओ को सयुक्त कर यह मानसिक अभिवृत्ति आधुनिकीकरण की प्रक्रिया शुरू होने के साथ साथ आरम्भ हो जाती है। वे इस प्रक्रिया के तीन परस्पर जुडे हुए और एक दूसरे को प्रभावित करनेवाले पक्षो का उल्लेख करते हैं। उनके शब्दो मे ये पक्ष हैं 1 निरन्तर व्यवस्थित और ज्ञान के प्रति गवेषणापरक दृष्टि को बनाये रखनेवाले सह सम्बन्धो *और कारणो की उपस्थिति के बारे मे एक जाँचा परखा मन्तव्य*, जिसे दूसरे शब्दो मे ज्ञान के प्रति विश्लेषक कारणात्मक और अन्वेषी दृष्टिकोण कहा जा सकता है, 2 पहले पक्ष से उत्पन्न और उसका पोषण करनेवाले उपकरणो एव तकनीको की बहुलता और 3 व्यक्ति और सामाजिक सरचना दोनो ही स्तरो पर निरन्तर परिवर्तन को अपनाने की अभिलाषा, जिसके साथ ही नीति और सामाजिक अस्मिता को सुरक्षित रखने की क्षमता भी विद्यमान होती है।

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया मे समाज के स्तर पर होनेवाले बदलाव की एक शृखला छिपी होती है। पारम्परिक कृषि प्रधान समाज मे आरोपित, अनन्य और विकीर्ण सरूप की प्रधानता होती है उनके सुस्थिर और स्थानीय समूह होते हैं और अपने गाँव या क्षेत्र से बाहर सीमित गतिशीलता होती है, व्यवसाय का वर्गीकरण अपेक्षाकृत सरल और सुस्थिर होता है, तथा सामाजिक स्तरीकरण की

व्यवस्था आस्थाप्रधान होती है और उसका प्रभाव बडा विस्तृत होता है। दूसरी ओर आधुनिक औद्योगिक समाज सार्वभौमिक विशिष्ट और उपार्जित मानकोवाला अत्यधिक गतिशील, विकसित व्यावसायिक व्यवस्था जो अन्य सामाजिक सरचनाओ से पृथक् होती है उपार्जन पर आश्रित वर्ग व्यवस्थावाला और प्रकार्यात्मक दृष्टि से विशिष्ट अनारोपित ढॉचेवाला होता है। ऐतिहासिक रूप से क्रमश पनपनेवाली सस्थाएँ अपने परिवेश पर अधिकाधिक नियन्त्रण से उत्पन्न मानवीय जानकारी मे प्रचुर वृद्धि से उपजे परिवर्तनो के साथ अपने को अनुकूलित करती चलती हैं। आधुनिकीकरण का सिद्धान्त अपने वितरणात्मक लक्ष्यो को स्पष्ट रूप से व्यक्त नही करता, परन्तु एक प्रच्छन्न समतावादी और सहभागी पृष्ठभूमि के उद्भव से ऐसा लगता है कि सामाजिक दूरियो मे कमी लाना और उनमे समानता को बढाना इसके वाछित लक्ष्य हैं।

आरम्भिक अर्थशास्त्र मे विकास की अवधारणा बडी सरल और सीधी सादी थी। विकास का तात्पर्य था राष्ट्र की स्थिर अर्थव्यवस्था की 5 से 7 प्रतिशत या उससे अधिक की दर से सकल राष्ट्रीय उत्पाद को बढाना और बनाये रखना। सयुक्त राष्ट्र ने 1960 के दशक को विकास दशक घोषित किया था, इस अवधि के लिए सकल राष्ट्रीय उत्पाद मे 6 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि की दर का लक्ष्य निर्धारित किया गया था। अर्थशास्त्रियो द्वारा प्रयुक्त दूसरा सूचक था प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद मे वृद्धि और किसी देश की जनसख्या की दर की तुलना मे अधिक तीव्र गति से अपने उत्पादन की मात्रा को बढाने की क्षमता के बीच का सम्बन्ध। आर्थिक विकास की मात्रा को तय करने के लिए प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद मे वृद्धि की दर और स्तर का निर्धारण किया गया। इस तरह का हिसाब लगाने मे प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद मे आर्थिक वृद्धि मे से मुद्रास्फीति की दर का घटा दिया गया। वित्तीय विकास की इस अवधारणा मे उत्पादन तथा रोजगार की सरचना मे नियोजित बदलाव लाना ही लक्ष्य था। ग्रामीण कृषिक्षेत्र का आकार और हिस्सा कम हुआ, शहरी औद्योगिक क्षेत्र के उत्पादन और सेवा वाले उद्योगो के क्रमश विस्तार की आशा थी। विकास को व्यक्त करनेवाले आर्थिक सूचको से अलग सामाजिक व्यजको को विशेष महत्त्व नही दिया गया। प्रति व्यक्ति जी एन पी मे वृद्धि का ऐसा व्यापक प्रभाव अनुमानित किया गया कि नौकरी और आर्थिक अवसरो म वृद्धि होगी और वृद्धि म लाभ का व्यापक प्रसार होगा।

परन्तु अर्थशास्त्रियो ने जैसा सोचा था, वह विकासशील देशो के सन्दर्भ मे नही हुआ। 'प्रच्छन्न हाथ' (एडम स्मिथ के द्वारा 1976 मे लिखे वेल्थ ऑफ नेशन से उत्पन्न शब्द) ने कोई जादू की छडी नही घुमाई। विकास का लाभ जनसख्या के एक छोटे से हिस्सो तक ही सीमित रहा, वह आम आदमी तक नही पहुँच सका।

धीरे धीरे यह महसूस हुआ कि विकास का काम पूरा करना ही पर्याप्त नही था। इसलिए आर्थिक विकास को पुनर्परिभाषित किया गया और उसे विकसित हो रही व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य मे गरीबी तथा असमानता और बेरोजगारी को मिटाने के लक्ष्यो के साथ जोडा गया। इस प्रक्रिया मे पुनर्वितरण अपरिहार्य रूप से वृद्धि के साथ जुड गया। विकास की अवधारणा मे धीरे धीरे तीन केन्द्रीय मूल्य समाहित किये गये जीवनयापन, आत्मगौरव तथा विकल्प चुनने की स्वतन्त्रता।

आधुनिकीकरण और विकास दोनो से जुडे अनेक मूलभूत प्रश्न अभी भी विकास के बारे मे सोचनेवाले विचारको और नीति नियोजको को उलझाये हुए हैं। उनके ठीक ठीक उत्तर मिलना शेष है।

**आधुनिकीकरण और विकास का स्वरूप :** सैमुअल पी हटिंगटन (1976, पृ 30 31) ने **द चेंज टु चेंज . मॉडर्नाईजेशन, डेवलपमेंट ऐण्ड पॉलिटिक्स** नामक एक विचारोत्तेजक लेख मे आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की नौ विशेषताओ की पहचान की है जो उनकी दृष्टि मे सामान्यत सभी अध्ययनकर्ताओ द्वारा स्वीकृत हैं। ये विशेषताएँ विकास की प्रक्रिया के लिए भी समान रूप से लागू होती हैं

1 आधुनिकीकरण और विकास, क्रान्तिकारी प्रक्रियाएँ हैं। इसके तकनीकी और सास्कृतिक परिणाम उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितनी नव लौह क्रान्ति के थे, जिसने खानाबदोश और शिकारी आदमी को कृषक के रूप मे स्थापित किया। अब ग्रामीण कृषि प्रधान सस्कृतियो को नागर-औद्योगिक सस्कृतियो मे बदलने का प्रयास हो रहा है। ए टाफलर (1980) के शब्दो मे यह पहली धारा से दूसरी धारा की ओर आगे बढना है।

2 आधुनिकीकरण और विकास दोनो की प्रक्रिया जटिल और बहुआयामी है। सज्ञानात्मक, व्यवहारपरक और सस्थागत परिमार्जन तथा पुनर्रचना की एक शृखला उनके साथ जुडी हुई है।

3 दोनो ही अवधारणाएँ सर्वांगिक (systematic) प्रक्रियाएँ हैं। एक आयाम मे परिवर्तन दूसरे आयामो मे भी परिवर्नन लाता है।

4 ये व्यापक प्रक्रियाएँ हैं। अपने उद्भव केन्द्र से उत्पन्न होकर विचार और तकनीक विश्व के अन्य भागो मे फैल जाते हैं।

5 ये दीर्घकालिक प्रक्रियाएँ हैं। आधुनिकीकरण तथा विकास दोनो मे ही समय महत्त्वपूर्ण है। इन्हे तत्काल उत्पन्न करनेवाला कोई तरीका ज्ञात नही है।

6 ये कई चरणो मे निबद्ध प्रक्रियाएँ हैं। इतिहास बताता है कि आधुनिकीकरण और विकास के लक्ष्यो की दिशा मे प्रवृत्ति पहचाने जा सकनेवाले चरणो और उपचरणो मे घटित होती है।

7 ये समरूप बनानेवाली प्रक्रियाएँ हैं। आधुनिकीकरण और विकास ज्यो-ज्यो उच्च चरणो पर पहुँचते हैं, राष्ट्रीय समाजो के बीच अन्तर घटते हैं और

अन्ततोगत्वा एक स्थिति आती है 'जब आधुनिक विचारों और संस्थाओं के सार्वभौमिक रूप लागू होते हैं जिससे विभिन्न समाज एक ऐसे बिन्दु पर पहुँचते हैं कि वे इतने एकरूप हो जाते हैं कि विश्व राज्य का निर्माण करने में समर्थ हो जाते हैं (ब्लैक 1966 पृ 155 174)।

8 दोनों ही ऐसी प्रक्रियाएँ हैं जिनका रुख पीछे नहीं मोड़ा जा सकता। आधुनिकीकरण और विकास में पीछे नहीं जाया जा सकता हालाँकि यदा कदा उथल पुथल और अस्थायी तौर पर उतार चढाव आ सकते हैं।

9 ये प्रगतिशील प्रक्रियाएँ हैं। आधुनिकीकरण और विकास अपरिहार्य और वांछित हैं। दीर्घकाल मे ये मानव की भौतिक और सांस्कृतिक दोनों ही प्रकार की समृद्धि मे योगदान करती हैं।

आधुनिकीकरण और विकास की प्रक्रियाएं क्रान्तिकारी जटिल प्रणालीपरक लम्बी और कई चरणो मे निबद्ध होती हैं। इस बारे मे कोई विवाद नहीं है। परन्तु क्या वे व्यापक होती हैं ? यह प्रश्न विवादास्पद है। आधुनिकीकरण और विकास के कुछ लाभ काफी व्यापक रहे हैं परन्तु मानव समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा उनसे अछूता रहा है। इस प्रक्रिया मे निहित अन्तर्विरोध यह सन्देह उत्पन्न करते हैं कि क्या समान मात्रा में आधुनिकीकरण और विकास प्राप्त करने का आदर्श विश्वव्यापी धरातल पर कभी सचमुच में प्राप्त किया जा सकेगा। वर्तमान प्रवृत्तियों को देखने से यह बहुत सम्भव नहीं लगता। टाफ्लर (1980) के रूपक को लेकर कहें तो मानव समाज का एक छोटा सा टुकड़ा जहाँ दूसरी से तीसरी धारा में जा रहा है दो तिहाई मानवता परिस्थितियों के षड्यन्त्र से जकडी हुई पहली धारा का अवयव बनी हुई है। केवल बडे ही सीमित अर्थ में सभी समाज आधुनिक और विकसित होने की कोशिश कर रहे हैं अन्यथा बढती हुई विषमताएँ आधुनिकीकरण और विकास की व्यापकता को निरर्थक बना रही हैं।

समरूपीकरण का एक पहलू कुछ और आधारभूत प्रश्न खडे करता है। आजकल विश्व को एक व्यापक गाँव कहना आम बात हो चली है परन्तु जातियों और सांस्कृतिक चेतना की बहुलताओं में वृद्धि जो इस टुकडे टुकडे कर रही है को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। महाशक्तियाँ जिस ढंग से आचरण कर रही हैं उनसे किसी सार्थक और व्यापक एकीकरण की सम्भावना नहीं दिखती। विकासशील देश भी तनाव और द्वन्द्व के भँवर मे खींच लिये गये हैं और उनके आपसी मतभेद विश्वशान्ति के लिए आशंका पैदा कर रहे हैं। यह प्रक्रिया क्या पीछे की ओर लौट सकती है यह तो समय ही बतायेगा। यहाँ पर यह उल्लेख करना उपयुक्त होगा कि अनेक समाजों में रूढिवादिता सिर उठा रही है और कई स्थानों पर आधुनिकताविरोधी तथा विकासविरोधी विचारधाराएँ दृढ हो रही हैं। आधुनिकीकरण और विकास प्रगतिशील हैं यह सांस्कृतिक मूल्यांकन और

वैचारिक दृष्टि की बात है। इनके लाभ निस्सन्देह प्रचुर हैं, परन्तु उसकी सामाजिक कीमत और उसमे निहित सास्कृतिक ह्रास भी कम नहीं है। अधिक विकसित देशों म दिखाई पडनेवाली बहुत सी प्रवृत्तियाँ किसी भी तरह प्रगतिशील नहीं कही जा सकती। सामाजिक नामहीनता और व्यक्तिगत विलगाव के प्रमाण बढ रहे हैं। व्यक्ति और समूह के स्तर पर हिंसा मे वृद्धि हो रही है। समाज की मानवीय सरचना कमजोर हो रही है और अनेक सामाजिक सस्थाएँ व्यर्थ हो रही हैं। ये देश इन प्रवृत्तियो का रोक पाने मे कठिनाई का अनुभव कर रहे हैं। इसीलिए आधुनिकीकरण और विकास के लक्ष्यों और युक्तियों के बारे मे पुनर्विचार आवश्यक हो गया है। उनके कुछ खतरे दूर किये जा सकते हैं विकास और आधुनिकीकरण की आर ल जानेवाले कम घातक और अधिक बराबरीवाले रास्ते खोजे जा सकते हैं। विकल्पो के बार मे बहस इसी विषय मे है। अन्तिम विश्लेषण मे आधुनिकीकरण आर विकास का भविष्य इस पर निर्भर करता है कि आधुनिक मानव अन्तर्राष्ट्रीय अव्यवस्था और ससाधना के व्यापक स्तर पर हो रहे दोषपूर्ण वितरण को किस तरह सँभालता है। यदि महाशक्तियाँ टकराव का रास्ता चुनती हैं और नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के तर्क को अस्वीकार करती हैं तो उसका भविष्य–यदि कोई है–तो अन्धकारमय है।

पुनर्विचार करते हुए आधुनिकीकरण और विकास की तीन और विशेषताओ का उल्लेख किया जा सकता है। प्रथम, यह स्वीकार करना होगा कि ये पीडादायी प्रक्रियाएँ हैं। आधुनिकीकरण और विकास समाज के कुछ वर्गो के बडे पैमाने पर शोषण और एक सीमा तक बेरुखी पर निर्मित हुए हैं। साम्राज्यवाद ने इसमे काफी योगदान किया है। उनकी विस्मयकारी उपलब्धियो ने बहुत सामाजिक चोट पहुँचाई है और वे अभी भी ऐसा कर रही हैं। इनसे न केवल अन्तर्राष्ट्रीय, बल्कि राष्ट्र के अन्दर भी भेद बढा है। विश्व के देश सुविधासम्पन्न और साधनहीन की श्रेणियो मे बाँटे जा सकते हैं, और पहली श्रेणी मे बहुत कम देश आते हैं। देश के अन्दर भी इसी तरह का भेद दिखता है। अधिकाश देशो मे छोटा सा सुविधासम्पन्न समूह होता है जो बहुत बडे साधनहीन जनसमुदाय से घिरा होता है। आधुनिकीकरण और विकास की प्रक्रिया के आधार पर चोट पहुँचानेवाले आयाम की अपरिहार्यता को ठीक ठहराने की कोशिशे पहले भी हुई हैं पर उनके द्वारा नही जिन्हे चोट पहुँची थी। अब इसे खुली चुनौती दी जा रही है।

दूसरी विशेषता यह है कि आधुनिकीकरण और विकास बहुरेखीय एव बहुमार्गीय प्रक्रियाएँ हैं। विगत इतिहास का अनुभव यह बताता है कि सभी समाजो को आधुनिकीकरण और विकास के लिए अनिवार्य रूप से एक ही रास्ता अपनाना जरूरी नहीं, दूसरे रास्ते भी अपनाये जा सकते हैं।

तीसरी विशेषता, इन प्रक्रियाओ को निरन्तर और अन्तहीन नहीं माना जा

सकता। ये 'आन्तरिक' तथा बाह्य सीमाओं द्वारा अनुबन्धित होती हैं। मानवीय दृष्टियाँ और समझ में बदलाव आ सकता है। आधुनिकीकरण और विकास के मार्ग और अन्तिम लक्ष्य तो बदल ही रहे हैं।

**दिशाहीन विवाद** विकास और आधुनिकीकरण के वादों और कामयाबी के बीच पिछले तीन दशकों में जो खाई उभरी है उसने बहुत हताश किया है और अपने हृदय को टटोलने की जरूरत का अनुभव कराया है। इनसे जुड़े नाना प्रकार के और बहुतेरे उपाय सुझाये गये हैं और कई तरह के निदान भी प्रस्तुत हुए हैं। न केवल विकास बल्कि विकास के बारे में बहस भी अस्त व्यस्त हो चली है, विचारों और तकनीकों के गुंजलक में तीसरी दुनिया भी खो-सी गयी है। कोई सर्वोपक और व्यवहार्य दिशा भी नहीं दिख रही है। फिर भी चर्चा तो अवश्य ही जारी रहनी चाहिए।

विकास की कुछ दुविधाओं के बारे में संवाद जरूरी है। आज कौन से मुख्य मुद्दे और विकल्प चर्चा के केन्द्र में हैं ? पहली दुविधा विकास बनाम अविकास की है। पिछले तीन दशकों में विकास के प्रयासों के परिणाम से मोहभंग इतने व्यापक और गम्भीर रूप से हुआ है कि तीसरी दुनिया के कुछ विचारक विकास *को मानवता का प्रथम शत्रु मानने लगे हैं और अविकास के पुजारी बन गये हैं।* विकास की शून्य दर की विचारधारा मजाक न रहकर कुछ लोगों के लिए गहरा विश्वास बन गयी है। यह सही है कि विकास के वादे के अनुरूप लाभ नहीं मिले और इसकी सफलता और विफलता दोनों ने बहुत सी पकड़ में न आ सकनेवाली समस्याओं को जन्म दिया है। इन समस्याओं के साथ जूझने में सरकारों को भी कठिनाई हो रही है परन्तु अविकास की विचारधारा शायद रोग से कहीं घातक इलाज साबित हो सकती है। जनसंख्या का विस्फोट खाद्यान्न, ऊर्जा और अन्य प्राकृतिक संसाधनों की कमी और गलत वितरण तथा पर्यावरण के लिए खतरे ऐसी समस्याएँ हैं जिन्हें स्वतः अपने-आप सुलझने के लिए नहीं छोड़ा जा सकता। ये हमारे सामने चुनौती पेश करती हैं और इतिहास की प्रक्रिया में सचेत और दृढ़ हस्तक्षेप की आवश्यकता की ओर संकेत करती हैं।

दूसरी दुविधा है देशज बनाम विदेशी विकास की। आधुनिक विश्व के कई विरोधाभासों में से एक यह है कि जहाँ एक ओर इसके अवयव समाज एक-दूसरे के निकट आ रहे हैं वहीं इस केन्द्राभिमुख प्रवृत्ति में जातीयता, धर्म, संस्कृति और भाषा की प्रवृत्तियाँ रोड़ा अटका रही हैं। एक अनुमान के अनुसार विश्व में इस समय जातीयता के विभिन्न आशयों को लेकर उपजे कम या शक्तिवाले 370 आन्दोलन चल रहे हैं। विकासशील समाजों के सांस्कृतिक यथार्थ को आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता। विकास के सभी उपायों को इनके प्रति संवेदनशील एवं प्रतिक्रियाशील होना पड़ेगा। विकास के लक्ष्य आन्तरिक देशज कारकों द्वारा

काफी हद तक प्रभावित होगे। साथ ही मानवता के सास्कृतिक विकास की शक्ति के रूप मे विचारो और नवाचारो के प्रसार के सत्य को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता। दोना ही राष्ट्रीय सीमाओ को पार करते हैं पर विचार, सस्थाएँ और तकनीक को देशज मानस के अनुकूल ढालना होगा। कोई भी समाज बाह्य तथ्यो से पूरी तरह अप्रभावित नहीं रह सकता। परिस्थिति की बाह्यता है इन दोनो का मिश्रण।

विकास मे आत्मनिर्भरता बनाम परस्पर निर्भरता तीसरी दुविधा है, जो नयी चर्चाओ मे अन्दर की ओर उन्मुख बनाम बाहर की ओर उन्मुख विकास के रूप मे निरूपित की गयी है। विभिन्न देश क्षेत्रफल, जनसख्या और प्राकृतिक सपदा की स्थायी निधि की दृष्टि से अलग-अलग होते हैं। चीन और भारत जैसे विशाल देश अत्यधिक आत्मनिर्भरता चाहते रहे हैं, पर वे भी पूरी तरह से आत्मनिर्भर होने की आशा नहीं कर सकते। छोटे देश, विशेषत द्वीप और अलग-थलग पडे देश, समान मात्रा मे आत्मनिर्भरता नही पा सकते। इन्हे न केवल पूँजी और तकनीक बल्कि प्राकृतिक ससाधनो के लिए भी दूसरो का मुँह देखना पडता है। आत्मनिर्भरता और अपने अन्दर की ओर झाँकनेवाली दृष्टि के हिमायती विकास की अवधारणा के कुछ फायदे हैं, पर कोई भी समाज अपने को अलग नहीं रख सकता। उपक्षेत्रीय, क्षेत्रीय और व्यापक—हर तरह की परस्पर निर्भरता बढानी होगी। यह जरूर है कि यह परस्पर निर्भरता स्वामी सेवक के सम्बन्ध मे न बदल जाए जो तीसरी दुनिया मे अधीनता और निर्भरता को जन्म देती है।

विकास सहायता के प्रति समृद्ध देशो का दृष्टिकोण यदि विकृत नहीं तो निन्दनीय जरूर है। उदाहरणार्थ विकासशील बनाम अत्यन्त जरूरतमद देशो की सहायता की दुविधा का स्मरण कीजिए। यह गम्भीरता से कहा गया कि कुछ समाज दी गयी सहायता का ठीक तरह उपयोग करने मे असमर्थ हैं और इनको किसी तरह की सहायता देने का मतलब है सहायता का एक अतल खाई मे समा जाना जिसका कोई लाभदायक परिणाम नहीं होता है। सहायता उन्हे मिलनी चाहिए जो उसका उपयोग करने मे सक्षम हो। दूसरो को उनके भाग्य पर छोड देना चाहिए—चाहे इसके कैसे भी घातक परिणाम क्यो न हो। सहायता की कीमत होती है और वह भरोसेमद नही हो सकती।

चौथी प्रमुख दुविधा जो वैचारिक स्तर पर तो सुलझा ली गयी है पर व्यवहार के धरातल पर नहीं का सम्बन्ध वृद्धि बनाम वितरण से है। विकास के बारे मे आज की सोच मे सकल राष्ट्रीय उत्पाद व्यर्थ हो गया है क्योकि यह समानता और सामाजिक न्याय दिलाने मे असफल रहा है। आज पुन पुनर्वितरण पर बल दिया जा रहा है जो मूल आवश्यकताओ की पूर्ति, रोजगार दिलाने और सामाजिक सेवाओ को सुधारने मे सहायक हो। फिर भी असली प्रश्न अभी भी अनुत्तरित

है। वृद्धि के बिना समाज किसका वितरण करेग। वृद्धि के कारक की उपेक्षा नहीं की जा सकती हालाकि उसके वितरणवाले आयाम पर हमेशा बल दना हागा। अनेक दुविधाएँ केन्द्रीकृत नियोजन के विभिन्न पहलुओ से जुडी है। इनम पहली को इस तरह समझा जा सकता है के द्रीकृत नियोजन बनाम बाजार का परिचालन। क्या लक्ष्यो का निर्धारण किसी केन्द्रीय नियाजन के अभिकरण द्वारा होना चाहिए ? या बाजार के उपक्रम और कीमते अपने घटने बढने के लिए छोड दी जानी चाहिए ? यह स्पष्ट है कि बाजार के स्थान का जादू विकासशील देशो के सन्दर्भ मे बहुत कारगर नही सिद्ध हुआ है तथा कीमतो क सकेत अक्सर गढ लिये जाते हैं और इसलिए भ्रामक पाये जाते हैं। यह ज्ञातव्य है कि कन्द्रीय रूप स नियोजित अर्थव्यवस्थाएँ भी कीमतो क सकतो क प्रति अधिक सवेदनशील हो रही हैं। कीमतो की उपेक्षा तब तक नही की जा सकती जब तक विश्व मुक्त बाजार तथा केन्द्रीय रूप से नियोजित अर्थव्यवस्था म बटा रहगा। इस सन्दर्भ मे दूसरी दुविधा है राष्ट्र के अन्दर केन्द्रीकरण बनाम नियोजन का विकेन्द्रीकरण। इसी से जुडी हुई दुविधा है आम जनता की सहभागिता बनाम व्यावसायिक वृत्ति। तीसरी दुनिया की परिस्थितिया एक सुदृढ केन्द्र चाहती हैं पर इसका अर्थ जिनके लिए नियोजन हो रहा है और जो नियोजक हैं उनके बीच अलगाव कदापि नही है। यह जरूरी है कि आम जनता की विकेन्द्रीकृत नियोजन तक पहुच हो। यह और आम जनता की भागीदारी स्थानीय और क्षत्रीय आवश्यकताओ को अच्छी तरह व्यक्त कर सकेंगे और मानव ससाधनो की अधिक और प्रभावशाली उपयोग की सभावना को बढायेंगे। उच्च कोटि की व्यवसायवादिता जरूरी है पर यह भी स्मरणीय है कि नौकरशाही और व्यावसायिक नियोजना मे प्रशिक्षित योग्यता और प्रशिक्षित अयाग्यता दोनो ही होती हैं। स्वामी जनता को ही बना रहना चाहिए।

सही विकल्पा को चुनने से जुडी हुई सकृयात्मक स्वरूपवाली कई दुविधाआ की चर्चा एक साथ की जा सकती है। इनमे पहली है उद्योगीकरण बनाम पर्यावरण। विकसित देशा द्वारा पर्यावरण के लिए उत्पन्न आशकाएँ कम विकसित दशो से ज्यादा हैं। विकसित समाज प्रदूषण और प्रदूषण को उत्पन्न करनेवाली तकनीक दाना का ही अल्पविकसित समाजो को निर्यात करते हैं। अत अधिक उद्योगीकृत समाज को अपने सकल राष्ट्रीय उत्पाद का एक भाग ऐसे शोध आर विकास के लिए सुरक्षित रखने पर गम्भीरता स सोचना चाहिए जिससे ऐसी तकनीक का विकास हो जो न्यूनतम प्रदूषण पैदा करे पुन प्राप्त न हा सकनवाले ससाधना का व्यर्थ का दोहन न करे और पर्यावरण का सरक्षण तथा सुधार कर। साथ ही उन्हे यह भी निश्चित करना चाहिए कि वे तीसरी दुनिया को ऐसी तकनीक का निर्यात न कर जा उच्च मात्रा म प्रदूषण पैदा करती हो आर ऊर्जा तथा प्राकृतिक ससाधनो का उपभाग करती हो। तीसरी दुनिया को अपनी ओर से ऐसी तकनीक

के आयात का प्रतिकार करना चाहिए।

पर्यावरण के लिए उद्योगीकरण न करने का सुझाव तीसरी दुनिया के लिए बेतुका है। अल्पविकसित देशो की पर्यावरण समस्याएँ पूर्णत भिन्न प्रकार की हैं। इस सन्दर्भ मे इन्दिरा गाँधी ने सही कहा था कि इन समाजो के लिए गरीबी सबसे बडा प्रदूषक है। गरीबी निवारण का पर्यावरण की गुणवत्ता और उसके सुधार मे सार्थक योगदान होगा। इन समाजो मे पर्यावरण चेतना बढानी होगी जिससे कि भविष्य मे ऐसी समस्याओ का सामना न करना पडे जो सँभाली न जा सके। यह उल्लेखनीय है कि लोभ और अदूरदर्शिता के कारण तीसरी दुनिया मे पर्यावरण का प्रचुर मात्रा मे अवमूल्यन हुआ है, इसे प्रतिवर्तित करना होगा।

उद्योग बनाम खेती, आयात प्रतिस्थापना बनाम निर्यात प्रवर्तन, सहायता बनाम व्यापार, मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बनाम क्षेत्रीय एकता तथा सुविधा की दुविधाएँ बहुचर्चित रही हैं और उन पर अधिक चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है। ये अनिवार्यत यह या वह का विकल्प सामने नहीं रखतीं, बल्कि दोनो का विवेकपूर्ण सयोग अपेक्षित है। कृषि उत्पादन पर बल अवश्य दिया जाना चाहिए। पर अनुभव यह बताता है कि तीसरी दुनिया के कई देशो मे उत्पादन तो सतोषजनक है, पर वितरण की प्रणाली दोषपूर्ण है। इससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि अधिक खाद्यान्न होने पर भी लोगो की क्रयशक्ति इतनी कम है कि वे पोषाहार की जरूरतो के लिए पर्याप्त खाद्यान्न नहीं जुटा सकते। किसी भी हाल मे विश्व दो अलग-एक मुख्यत कृषि प्रधान और दूसरी मुख्यत उद्योग प्रधान को बनाये रखने की-सस्कृति नहीं अपना सकता। तीसरी दुनिया के देशो को यथासम्भव आयात प्रतिष्ठापन की नीति अपनानी चाहिए, पर यह नीति विकास के लिए जरूरी हर वस्तु के लिए लाभदायक नहीं हो सकती। प्राकृतिक ससाधनो का व्यापक वितरण असन्तुलित एव असमान है जिससे कुछ आवश्यक चीजो का आयात जरूरी हो जाता है। किसी भी स्थिति मे आयात प्रतिष्ठापन और निर्यात वृद्धि के प्रयास साथ साथ चल सकते हैं, हालाँकि निर्यात के प्रयास को अनेक प्रकट और अप्रकट बाधाओ का सामना करना होगा।

सहायता बनाम व्यापार का प्रश्न पेचीदा है। यह एक स्पष्ट तथ्य है कि शायद ही कभी बिना कठोर शर्तों के सहायता मिलती है। ज्यादातर यह ऐसी परियोजनाओ के समर्थन मे होती है जिनका पूरा पैकेज सहायता पानेवाले की अपेक्षा सहायता देनवाले के हित म अधिक लाभदायक होता है। वस्तुत सहायता एक भ्रामक शब्द है-ऐसे कर्ज जिन्हे ब्याज समेत चुकाना हो, सहायता नहीं कहे जा सकते। अन्तर्राष्ट्रीय कर्जों का भार कभी कभी इतना ज्यादा होता है कि बाद मे ली जानेवाली अधिकतर उधारी कर्ज के रख रखाव मे चली जाती है। सहायता के बहुत से रूप निश्चय ही शोषक प्रकृति के हैं, इनमे से कुछ तो छद्म साम्राज्यवाद

के रूप होते हैं। विकास का स्वय अपना और अभिमुख दृष्टिकोण समृद्ध देशो द्वारा दी जानेवाली सहायता से यथाशीघ्र छुटकारा पाना चाहता है हालाँकि कुछ सहायता कुछ दिनो तक आवश्यक हो सकती है। व्यापार भी गैरबराबरी की शर्तो पर होता है। विकसित देश कच्चा माल और अशत ससाधित चीजे चाहते है। सरक्षणवाद और सीमा शुल्क जैसी और बाधाए निर्यात वृद्धि और व्यापार मे रुकावट डालते हैं। अधिक विकसित और अल्प विकसित देशो के बीच व्यापार का प्रश्न गहन समीक्षा और सुधार के तात्कालिक उपायो की खोज की अपेक्षा करता है। तीसरी दुनिया मे विनिमय और व्यापार को न्यायपूर्ण और सही शर्तो पर विकसित करने की जरूरत है।

आइए जरा भौतिक निवेश बनाम मानव पूजी मे निवेश की दुविधा तथा इससे सम्बधित दो प्रमुख समस्याओ पर गौर करे। भौतिक निवेश निश्चय ही जरूरी है पर यदि इसके उचित उपयोग के लिए मानव ससाधन न हो तो इसका अधिकाश भाग व्यर्थ चला जाएगा। मानव पूजी मे निवेश भौतिक निवेश से अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह तर्क दिया जा सकता है कि मानव ससाधन विकास के उपाय आवश्यक भौतिक निवेश के अभाव मे कुछ भी नही कर सकते। इस तर्क मे काफी दम है। अत आवश्यक है कि मानव पूँजी मे निवेश तथा भौतिक निवेश दोनो म सतुलन किया जाय। चेतना के विस्तार और प्रशिक्षित क्षमता और कौशल विकसित कर के मानव ससाधनो को समृद्ध किया जा सकता है। औपचारिक बनाम अनौपचारिक शिक्षा का विभाजन एक अर्थ मे सही नहीं है दोनो ही आवश्यक हैं और दोनो के खास उद्देश्य हैं। शिक्षा को कम महत्त्व देने से अधिक विकसित और अल्पविकसित देशो के बीच ज्ञान की खाई बढेगी। इससे वैज्ञानिक और तकनीकी अतराल उत्पन्न होगा और तीसरी दुनिया इन क्षेत्रो मे विकसित ससार की बराबरी करने की आशा और अवसर से हाथ धो बैठेगी। अत शिक्षा के औपचारिक माध्यमो से गुणवत्ता और उत्कृष्टता को आगे बढाना होगा। साथ ही व्यापक निरक्षरता को दूर करने के लिए शिक्षा के अनौपचारिक तरीको के साथ नये प्रयोगो की जरूरत होगी। प्रौढशिक्षा और विस्तार शिक्षा क कार्यक्रमो को आगे बढाना होगा। अनौपचारिक शिक्षा की पद्धति का उपयोग विकास कार्य के लिए जरूरी विभिन्न कौशलो की शिक्षा देने और उनसे स्तरोन्नयन के लिए महत्त्वपूर्ण हो सकता है। पाठशाला का विरोध करनेवाली विचारधारा वैध और सुचिन्तित सामाजिक आधार पर खडी है पर इससे कोई सकारात्मक रास्ता नही निकलता। शिक्षा की समूची सरचना की लक्षणो तथा उपादानो समेत अच्छी तरह जाँच परख की जरूरत है। इसम औपनिवेशिक इतिहास की देन है और कई अर्थो मे अप्रासङ्गिक है। इसे सशोधित करने की आवश्यकता है। अदूरदर्शी राजनैतिक नेतृत्व तथा अपरिपक्व नौकरशाही इस क्षेत्र म तबाही ला सकती है।

नवीनतम तकनीक बनाम मध्यस्तरीय तकनीक की दुविधा भौतिक निवेश और मानव पूँजी मे निवेश दोनो को ही स्पर्श करती है। तीसरी दुनिया मे स्थायी रूप से निम्नस्तरीय तकनीक के उपयोग से देशो के बीच की विभाजन रेखा और भी सुदृढ होगी। फिर भी कोई देश किस प्रकार की तकनीक को अपनाता है, वह सम्मान का प्रश्न नही होना चाहिए, दरअसल तकनीक आवश्यकतानुरूप होनी चाहिए। आरम्भिक चरणो मे तकनीक को अपनाना अपरिहार्य है। लघु सुन्दर हो सकता है पर न तो वह हमेशा कारगर होता है और न ही सभी समस्याओ को हल कर सकता है। इसलिए कार्य की प्रकृति के अनुरूप देश को उच्च, मध्यम और निम्न तकनीको मे से चुनाव करना चाहिए। इस प्रसग मे दो बाते विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं पहली, तकनीक को मानवता की सेवा मे एक उपकरण होना चाहिए न कि इसका उल्टा। दूसरी, अल्पविकसित देशो को ऐसे विकल्पो को अपनाने के लिए बाध्य नहीं करना चाहिए जो उन्हे वैज्ञानिक और तकनीकी दृष्टि से स्थायी रूप से मद स्थिति मे डाल दे।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण दुविधा यह है कि उद्‌विकास बनाम क्रान्ति को हम कैसे परिभाषित करते हैं। इतिहास बताता है कि क्रान्तिकारी प्रभाववाले बदलाव सामान्य उद्‌विकास के क्रम मे हुए हैं। यदि समाज अपने अन्तर्विरोधो को सुलझाने मे और समग्रवादी पुनर्वितरण को स्थापित करने मे असफल होते हैं, तो अन्तिम विकल्प के तौर पर क्रान्ति की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। यहाँ यह भी याद रखना चाहिए कि क्रान्ति जादू नही है। इसकी अपनी सामाजिक कीमत और पीडाएँ होती हैं। इसके लिए सतर्क योजना, सफल सक्रियकरण और समर्पित भाव से कठोर परिश्रम की आवश्यकता है। सच्ची क्रान्ति तक पहुँचना उग्र अतिवादी भावमुद्रा बनाने से कहीं ज्यादा कठिन है। असफल क्रान्ति दुर्व्यवहार को जन्म देती है। कुछ दशाओ मे यह जरूरी और अपरिहार्य हो सकती है, परन्तु सगठन और त्याग की इसकी अपेक्षाएँ हमे हमेशा ध्यान मे रखनी चाहिए।

अन्तिम दुविधा है एक विकास बनाम अनेक विकासो की। क्या विकास एक एकरेखीय प्रक्रिया है जो मानव को समान नियति की ओर आगे बढाती है? या विकास के कई रूप और बहुरेखीय मार्ग हैं जिनमे प्रत्येक के अलग उद्देश्य और तरीके हो सकना सम्भव है? विकास के एक रूप को माननेवाले मॉडल मे कई अस्पष्टताएँ और खामियाँ हैं। सास्कृतिक विशिष्टताओ पर निर्भर रहते हुए देशज सृजनात्मकता से उत्पन्न हुए अनेक तरह के विकास सम्भव हैं। सास्कृतिक विविधता सदैव रहेगी। उसे समाप्त करने के प्रयत्नो का प्रतिरोध होगा। किसी एक सार्वभौमिक विकासात्मक विकल्प के बदले अनेक जीवन शैलियो और भविष्य की सम्भावनाओ की दिशा मे सोचना अधिक उपयोगी है।

**इक्कीसवीं सदी की ओर** आधुनिकीकरण की सफलता पर सोचना पीडादायी है और इसके भविष्य की कल्पना दहशत पैदा करनेवाली है। हम ज्यो ज्यो धीरे धीरे इक्कीसवी सदी की ओर आगे बढ रहे हैं भविष्य के कुछ वीभत्स पहलू हमे कुरेदते हैं और यह याद दिलाते हैं कि आदमी कुल मिलाकर बहुत बुद्धिमान नही रहा है। अत्यन्त विशाल और पराक्रमी सभ्यताओ का रचनेवाला तथा विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र मे स्तब्ध कर देनेवाली उपलब्धियो को सभव करनेवाला मानव अपनी समाज व्यवस्था मे आये विकारो के लिए अपने को असहाय पाता है और उनके प्रतिकार के उपायो को हताश भाव से खोज रहा है।

सकल राष्ट्रीय उत्पाद की वृद्धि की उच्च दरो के माध्यम से प्राप्त धन और सपदा के साथ सब कुछ ठीक ठाक नही रहा है। यहा तक कि अतिविकसित देशो मे से कुछ अत्यन्त विकसित देश भी निरन्तर आर्थिक मदी मुद्रास्फीति और बढती हुई बेरोजगारी की कठिन समस्याओ का सामना कर रहे हैं। अपने समाज के आतरिक अन्तर्विरोधो असामजस्य और असन्तुलन को सुलझाने मे उनकी विफलता कारुणिक है। युवा वर्ग क्रान्ति की मुद्रा मे है। भौतिक समृद्धि से परे अपने लक्ष्यो को निर्धारित कर ये लोग समय समय पर ऐसी प्रतिसस्कृति को जन्म देते हैं जो इन समाजो मे घुसी हुई कुछ विकृतियो की झलक देती है। प्रतिसस्कृति वैकल्पिक जीवन शैली और अलग तरह के अनुभव की खोज उन्हे नए मोहक सम्प्रदायो की ओर ले जाती है जो या तो बाहर से आयातित होते हैं या देश के भीतर से ही नये रूप मे गढे गये होते हैं। इस व्यवस्था की तार्किक सगति को महिला-आन्दोलन उन्मुक्ति द्वारा चुनौती दी गयी है जिसने यह प्रदर्शित किया है कि वर्तमान समाज व्यवस्था मे स्त्री यदि वह अव्यक्ति नहीं है तो एक खण्डित व्यक्ति है और उसे यौन वस्तु के प्रतीक के रूप मे लिया गया है। अत्यन्त विकसित देशो मे भी क्षेत्रीय गरीबी के टुकडे शेष हैं। हिसा बढ रही है और नैतिक मूल्यो का ह्रास अब किसी तरह की घृणा उत्पन्न नही करता। भ्रष्टाचार जीवन की शैली हो गया है और अब उसे उचित माना जाने लगा है। यदि आधुनिकीकरण के ये आवश्यक और अनिवार्य पहलू हैं तो तीसरी दुनिया को उससे बचना चाहिए। पर ऐसा कहना सरल है, करना कठिन। जो कुछ समृद्ध देशो मे होता है वह अल्पविकसित देशो के ऊपर बुरी तरह छा जाता है। उनकी जीवन शैलियाँ प्राय बिना विचारे अपना ली जाती हैं। यह परिवर्तन समाज की परम्पराओ और मानको से मेल नही खाता है। यही कारण है कि आधुनिकीकरण कमजोर पडता है और परम्परा अपने को पुन प्रतिष्ठित करती है तथा रूढिवादिता को बहुत से सक्रिय और समर्पित अनुयायी मिल जाते हैं। आधुनिकीकरण की बहुत सी उपलब्धियाँ बुद्धि को चकित कर देनेवाली हैं परन्तु असन्तुलित वृद्धि जितनी समस्याओ को सुलझाती है उससे ज्यादा को जन्म देती है।

इसी सन्दर्भ मे विज्ञान और तकनीक के दिग्भ्रमित होने के कारण पैदा होने वाली व्यापक विसगति और असामजस्य को ले। विनाश के नये उपकरण बनाने के लिए धन आसानी से प्राप्त हो सकता है, पर समृद्ध देश अपने सकल राष्ट्रीय उत्पाद का एक दो प्रतिशत भी तीसरी दुनिया के विकास के लिए नहीं रख सकते। विकास सहायता की जगह सैनिक सहायता आसानी से मिल जाती है। जरा सोचिए, एफ 16 लडाकू विमान, आणविक पनडुब्बी और जमीन से वायु या वायु से वायु मे मार करनेवाली प्रक्षेप्यास्त्र की जो कीमत है उससे कितना खाद्यान्न, स्वास्थ्य और शिक्षा पायी जा सकती है ? अधिक खाद्यान्न होने से ही भूख की समस्या हल नहीं होती। समस्या है कि एक बहुत बडी आबादी उसे प्राप्त करने की आर्थिक क्षमता नही रखती है। भविष्य बदल सकता है, जैसी कि जैविकीय क्षेत्र मे यह सम्भावना बढ रही है कि हाइड्रोकार्बन से प्राप्त प्रोटीन भोजन को अनन्त मात्रा मे उपलब्ध करायेगा। यह नयी तकनीक, जिसकी असीमित सम्भावनाएँ हैं, अभी केवल प्रयोग के स्तर पर ही उपलब्ध है। यह देखना बाकी है कि क्या इसके पूर्ण विकास के लिए ससाधन प्राप्त हो सकेंगे जो ससार के करोडो गरीबो को भोजन दे और साथ ही व्यापक ऊर्जा की समस्या का समाधान भी कर सके।

वर्तमान समय मे आधुनिक औषधि विज्ञान के पास सभी नहीं तो अधिकाश मानवीय रोगो का इलाज है। गडबडी केवल यह है कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियो ने कीमतो को कृत्रिम रूप से इतना बढा दिया है कि कुछ सामान्य इलाज भी गरीबो की पहुँच के बाहर है। इस क्षेत्र मे शोध के लिए ससाधन उपलब्ध करने से उन सामान्य रोगो का सस्ता और अचूक इलाज मिल सकेगा जो गरीबो पर आक्रमण कर और शक्तिहीन बनाकर उन्हे असमय काल-कवलित कर देते हैं। बहुत से घातक रोग भी ऐसे नहीं हैं कि वे पकड मे न आ सके। प्रश्न है हमारी प्राथमिकताओ को ठीक करने का और व्यापक आर्थिक ससाधनो का एक भाग जीवन रक्षण के लिए आवश्यक युक्तियो को मजबूत करने मे लगाने का। इस समय की मानवद्वेषी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की रुचि युद्ध के कीमती खेल मे है, न कि जीवन रक्षण की समस्याओ को सुलझाने मे।

सन् 2000 के बारे मे जो भविष्यवाणियाँ हैं व उल्लसित तो नहीं ही करतीं बल्कि उल्टे गरीब और अमीर के बीच की खाई को और भी अधिक बढता हुआ दिखलाती हैं। 1975 मे विश्व की अनुमानित जनसख्या 4 090 मिलियन थी। सन् 2,000 मे इसके 6 351 मिलियन हो जाने की सम्भावना है। अधिक विकसित देशो मे यह 1975 मे 1 131 मिलियन से बढकर 2000 मे 1,323 मिलियन हो जाएगी, जबकि अल्पविकसित देशो मे 1975 मे 2,951 मिलियन से बढकर 2000 मे 5,028 मिलियन हो जाएगी। सन् 2000 तक विश्व की जनसख्या मे 55% की वृद्धि होगी जिसका 17% अतिविकसित क्षेत्रो मे होगा और 70% अल्पविकसित

क्षेत्रा मे। इस तरह सन् 2000 म अधिक विकसित क्षेत्रो म 21% और अल्पविकसित क्षेत्रो म 79% मानव जनसख्या रहेगी। यदि क्षेत्रो के हिसाब से देखा जाए तो वह अफ्रीका म 13 1% एशिया तथा प्रशान्त क्षेत्र मे 57% लातीनी अमेरिका मे 10% सोवियत रूस तथा पूर्वी यूराप म 7% तथा उत्तरी अमेरिका पश्चिमी यूरोप जापान आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलेंड मे 13% होगी। इस तरह मोटे तौर पर विकसित क्षेत्रा म 20% और अविकसित क्षेत्रो मे 80% जनसख्या रहेगी। अब इसकी तुलना सन् 2000 म सकल राष्ट्रीय उत्पाद क अनुमाना क साथ कीजिए। पूरे विश्व का स्कल राष्ट्रीय उत्पाद 14 677 विलियन अनुमानित है इसका 11 224 बिलियन डालर विकसित क्षेत्रा मे होगा। अमेरिका का सकल राष्ट्रीय उत्पाद 3 530 बिलियन डालर तथा पश्चिमी यूरोप का 3 740 बिलियन डालर जबकि चीन का 718 बिलियन डालर और 19 विलियन डालर बाग्लादेश का होगा। ये अनुमान बढती हुई खाई के स्वरूप को व्यक्त करने के लिए उद्धृत किये गये हैं और 1975 के डालर मूल्य पर आधारित हैं।

इस नयी पैदा हुई परिस्थिति को **ग्लोबल 2000 रिपोर्ट एटरिंग द ट्वेन्टी फर्स्ट सेंचुरी (1981)** के मुख्य निष्कर्षो को लेते हुए सक्षेप मे इस प्रकार कहा जा सकता है

'सन् 2000 तक विश्व जनसख्या की तीव्र वृद्धि मे शायद ही कुछ परिवर्तन आ सके। विश्व की जनसख्या 1975 मे 4 बिलियन से बढकर 2000 मे 6 35 बिलियन हो जाएगी। यह वृद्धि 50 प्रतिशत से अधिक की होगी। वृद्धि की दर म थोडी ही कमी आयेगी 1 8% प्रतिवर्ष से 1 7%। सख्या की दृष्टि से देखा जाए तो आज की तुलना म सन् 2000 मे जनसख्या मे निश्चय ही बहुत तेजी से वृद्धि होगी। प्रतिवर्ष 100 मिलियन लोग जनसख्या मे जुडगे जिनकी सख्या 1975 मे मात्र 75 मिलियन थी। इस वृद्धि का 90% अत्यन्त गरीब देशा मे होगा।

यद्यपि अल्पविकसित देशो की आर्थिक स्थिति मे औद्योगिक देशो की तुलना म अधिक वृद्धि वांछित है प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद अविकसित देशा म कम ही रहता है। कुछ अल्पविकसित देशो (खासकर लातीनी अमेरिका) क औसत सकल सकल राष्ट्रीय उत्पाद म पर्याप्त वृद्धि अनुमानित है परन्तु दक्षिणी एशिया के जनसख्या बहुल देशो म प्रतिवर्ष 2000 डालर (1975 के डालर) से कम ही रहेगा। स्पष्ट है कि सम्पन्न और विपन्न देशो के बीच दूरी बढेगी।

सन् 1970 से 2000 के बीच विश्व खाद्य-उत्पादन म 90 प्रतिशत की वृद्धि अनुमानित है। इसका अर्थ हुआ कि मोटे तौर पर इस सम्पत्ति मे प्रति व्यक्ति 95 प्रतिशत से कुछ कम की वृद्धि होगी। इस वृद्धि का अधिकाश भाग उन देशो के हिस्से मे पडता है जिनकी प्रति व्यक्ति भोजन की खपत की दर काफी ऊँची

है। दक्षिण एशिया, मध्यपूर्व और अफ्रीका के अल्पविकसित देशो मे अत्यल्प वृद्धि होगी या उनके वर्तमान स्तर मे गिरावट आएगी। साथ ही चीजो के वास्तविक दामो मे दुगुनी वृद्धि सभव है। कृषि योग्य भूमि मे 2000 तक केवल 4 प्रतिशत की वृद्धि होगी फलत खाद्यान्न मे अधिकाश वृद्धि पैदावार को बढाकर ही पायी जा सकेगी। ऊँची पैदावार के लिए अपेक्षित सभी वस्तुएँ जैसे उर्वरक, कीटनाशक दवाइयाँ सिचाई के लिए बिजली और मशीनो के लिए ऊर्जा अधिकाशत तेल और गैस पर निर्भर रहती हैं। 1980 के दशक मे विश्व का तेल उत्पादन भूगर्भ की सीमाओ की उत्पादन क्षमता की सीमा तक पहुँच जाएगा, हालाँकि पैट्रोलियम का दाम बडी तेजी से बढेगा। इस अध्ययन से यह सकेत मिलता है कि अधिक धनाढ्य औद्योगिक देश तेल और अन्य व्यापारिक ऊर्जा के स्रोतो पर अधिकाधिक नियन्त्रण रखेगे ताकि 1990 तक की जरूरतो को पूरा किया जा सके। दाम मे इजाफे के कारण कई अल्पविकसित देशो को अपनी ऊर्जा की जरूरतो को पूरा करने मे अधिकाधिक कठिनाइयो का सामना करना पडेगा। ईंधन की लकडी की जरूरते इस शताब्दी के अन्त तक उपलब्ध आपूर्ति से 25 प्रतिशत अधिक हो जाने की सम्भावना के बावजूद मानवता के एक चौथाई हिस्से का, जो ईंधन के लिए लकडी पर निर्भर है, भविष्य निराशाजनक है।

यद्यपि विश्व के परिमित ईंधन के ससाधन–कोयला, तेल, गैस, तेल-भण्डार तथा यूरेनियम–सिद्धातत कई सदियो के लिए पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हैं, पर इनका वितरण असमान है। ये जटिल आर्थिक और पर्यावरणीय समस्याओ को उत्पन्न करते हैं तथा उपभोग के लिए उनकी प्राप्ति तथा वास्तविक उपयोग की मात्रा मे पर्याप्त अन्तर पाया जाता है।

गैर ईंधनवाले खनिज स्रोत 2000 तक की जरूरतो को पूरा करने के लिए पर्याप्त प्रतीत होते हैं, परन्तु उनके स्थायी भण्डार को बनाये रखने के लिए निरन्तर अन्वेषण और पूँजीनिवेश की जरूरत होगी। साथ ही ऊर्जा के दाम मे वृद्धि के कारण इनका उत्पादन व्यय भी बढेगा और इन खनिज ससाधनो का दोहन आर्थिक दृष्टि से फायदेमद नहीं रह जाएगा। विश्व जनसख्या का एक चौथाई हिस्सा, जो औद्योगिक देशो मे रहता है, ससार के खनिज उत्पादन के तीन चौथाई हिस्से का उपयोग करता रहेगा।

विभिन्न क्षेत्रो मे पानी की कमी मे और तीव्र वृद्धि होगी। 1960 से 2000 के बीच मे होनेवाली जनसख्या वृद्धि के कारण ही पेयजल की आवश्यकता आधे विश्व मे दुगुनी हो जाएगी। जीवन स्तर मे सुधार के लिए इस जरूरत मे और भी वृद्धि अपेक्षित होगी। कई अल्पविकसित देशो मे जल की उपलब्धता 2000 तक अव्यवस्थित हो जाएगी। तेजी से वनों के सफाये के कारण जल की उपलब्धि मे गडबडी उत्पन्न होगी। पेयजल की नयी व्यवस्था करना लगभग सब जगह अधिक

खर्चीला हो जाएगा।

अगले दस वर्षो मे विश्व के वनो के उत्पादो और ईंधन की लकडी की माँग मे वृद्धि के साथ विश्व के जगलो की मात्रा घटती ही जाएगी। व्यापार की लकडी मे प्रति व्यक्ति 50 प्रतिशत की कमी की सम्भावना व्यक्त की जाती है। विश्व के जगल प्रतिवर्ष 18 से 20 मिलियन हैक्टर की दर से लुप्त हो रहे हैं। इनमे से अधिकाश का लोप अफ्रीका एशिया तथा दक्षिणी अमेरिका के न्ये उष्णकटिबधीय जगलो म हो रहा है। ऐसे सकेत मिल रहे हैं कि सन् 2000 तक अल्पविकसित देशो के वर्तमान जगलो का 40% भाग समाप्त हो जाएगा।

ऊसरीकरण क्षारीकरण कटाव जैविक तत्त्वो मे कमी अल्करीकरण तथा पानी के ठहराव के कारण कृषियोग्य भूमि म समूचे विश्व मे गम्भीर गिरावट आएगी। खेती योग्य तथा हरित क्षेत्र का एक भाग प्रतिवर्ष वजर हो रहा है और *मरुस्थल जैसी दशाओ के विस्तार मे तीव्र वृद्धि हो रही है।* *कार्बनडाईआक्साईड* तथा ऑक्सीजन की परतो को नष्ट करनेवाले रसायन की मात्रा परिमण्डल मे बढेगी और वह इतनी अधिक होगी कि उससे विश्व की जलवायु और ऊपरी वायुमण्डल 2050 तक बदल जाएगा। जीवाश्म ईंधन (विशेषत कोयला) को जलाने मे अत्यधिक वृद्धि के कारण होनेवाली एसिड वर्षा से झीलो धरती और फसलो के लिए खतरा बढ गया है। रेडियोसक्रिय तथा अन्य घातक पदार्थ बहुसख्यक देशो मे स्वास्थ्य और सुरक्षा के लिए सकट पैदा कर रहे हैं। पौधो और पशु प्रजातियो के विलक्षण रूप से विलुप्त हो जाने की भी सम्भावना बढ रही है। अपने नैसर्गिक पर्यावरण के कारण हजारो प्रजातियाँ–लगभग धरती की प्रजातियो का 20 प्रतिशत खासकर उष्णकटिबधीय जगल के क्षेत्रो मे–सदा सदा के लिए लुप्त हो जाएँगी।

उक्त प्रतिवेदन के मुख्य परिणामो ओर निष्कर्षो' का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वह भविष्य के लिए एक सकेत है।

यदि वर्तमान प्रवृत्तियाँ बनी रही तो आज हम जिस दुनिया मे रह रहे हैं उसकी अपेक्षा सन् 2000 मे विश्व और भी भीड भरा अधिक प्रदूषित पर्यावरणीय दृष्टि से कम सुस्थिर ओर विघटन के लिए अधिक तैयार होगा। जनसख्या ससाधनो और पर्यावरण के लिए गभीर सकट का आभास होने लगा है। भौतिक उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि के बावजूद आज की तुलना मे आदमी कई दृष्टियो से अधिक विपन्न हो जाएगा।

नितान्त गरीब सैकडो मिलियन लोगो के लिए भोजन तथा जीवन की अन्य आवश्यकताओ की पूर्ति किसी भी तरह बेहतर नही हो सकेगी। बहुतो के लिए यह निकृष्ट स्थिति होगी। यदि विश्व के देश वर्तमान प्रवृत्ति को बदलने के लिए निर्णायक ढग से काम नही करेगे तो तकनीक के क्षेत्र मे क्रान्तिकारी उन्नति को छोडकर इस धरती पर अधिकाश मनुष्यो का जीवन आज की तुलना म सन् 2000

मे अत्यन्त दयनीय होगा।

सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या विश्व के देश वर्तमान प्रवृत्ति को बदलने के लिए निर्णायक कदम उठाएँगे ? यह मनुष्य की बहुप्रशमित सृजनात्मक वैचारिक क्षमता के लिए एक चुनौती है। आनेवाले संकट की चेतावनी स्पष्ट और निर्विवाद है। मानवता आज जिस मोड पर खडी है, उस पर वह स्थिर नहीं रह सकती। अस्तित्व की रक्षा के लिए उसे इतिहास की प्रक्रिया मे सार्थक हस्तक्षेप करना होगा।

# 3. आधुनिकीकरण पर पुनर्विचार

आधुनिकीकरण का सम्प्रत्यय दूसरे विश्वयुद्ध के बाद के दशको मे तीसरी दुनिया द्वारा अनुभव की जानेवाली चुनौतियो के प्रति पश्चिमी सामाजिक विज्ञान की प्रतिक्रिया है। इस अवधि मे राजनीतिक उपनिवेशो की समाप्ति और साम्राज्यो का एक एक कर टूटना शुरू हुआ। सम्प्रभुता प्राप्त राज्यो के समुदाय मे नये देशो के प्रवेश की मात्रा मे नाटकीय ढग से तीव्र वृद्धि हुई और विश्व का राजनीतिक मानचित्र इतनी तेजी से बदलने लगा कि मानचित्र बनानेवालो को इस समस्या से निपटना कठिन हो गया। नतीजतन उभरते हुए इस नये यथार्थ को पश्चिमी दुनिया को स्वीकार करना पडा और पहले के उपनिवेशो तथा निर्भर देशो के साथ सहअस्तित्व के नये तरीको की खोज करनी पडी। नये बौद्धिक सम्बन्धो की स्थापना भी आवश्यक हुई।

नये देश आर्थिक विकास और तकनीकी परिवर्तन के लिए व्यापक कार्यक्रमो को आरम्भ करने की हडबडी मे थे। अधिक विकसित देशो जिनमे से कुछ देश नये देशो के (पहले) शासक रह चुके थे ने इन प्रयासो मे सहयोग के लिए सीमित ढग से हाथ बढाने का निर्णय लिया। ऐसा करने म विवेक और मानवीय भावना के दीर्घकालिक आर्थिक लाभ उनके अपने गणित मे महत्त्वपूर्ण हो गये और जिन्होने निर्णयो को भी प्रभावित किया। इस प्रक्रिया म वे इस बात के लिए हमेशा चिन्तित रहे कि पारस्परिक लाभ देनेवाले सम्बन्धो का ऐसा स्थायी रूप कैसे विकसित हो विकसित तथा विकासशील दोना ही प्रकार के देशो की दृष्टि से अल्पकालिक तथा दीर्घकालिक राष्ट्रीय लाभ को आँका गया। पश्चिमी सामाजिक विज्ञान परिवर्तन मे सहयोग के इस अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास मे सहायता पहुँचाने के निए उन्मुख हुआ। इस दिशा मे शोध के लिए पर्याप्त धन सहज रूप से उपलब्ध हुआ। शोधकर्ताओ ने ऐसी स्थापनाओ और विचारो की आवश्यकता का अनुभव किया जो उभरते हुए देशो की सवेदना को न कुचले और विकास कार्यक्रमो के सचालन तथा

स्वरूप निर्माण के लिए आकर्षक प्रारूप हो। आधुनिकीकरण ऐसा ही एक वैचारिक प्रारूप था। यह एक महत्त्वपूर्ण सम्भावनाओंवाले मॉडल के रूप मे ग्रहण किया गया और लगभग डेढ दशक तक बडा ही प्रभावी रहा।

1950 के आते-आते इस सम्प्रत्यय के आरम्भिक और कामचलाऊ सस्करण दिखने लगे थे। 1960 के दशक के पूर्वार्द्ध मे ये प्रयास तीव्र हो गये थे तथा 60 के मध्य तक इस सम्प्रत्यय के इर्द गिर्द एक शक्तिशाली अन्तशास्त्रीय सम्प्रदाय विकसित हो गया। हालाँकि इस दशक के अन्त तक यह अपनी अधिकाश शक्ति खो चुका था और उसका आधार खिसकने लगा था। 1970 के दशक के आरम्भिक चरणो मे इस सम्प्रत्यय की खामियाँ स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आयीं और समाजवैज्ञानिको ने वैकल्पिक प्रारूपो की खोज की दिशा मे पहल आरम्भ कर दी।

आधुनिकीकरण की अवधारणा मे एक सम्मोहक गुण था, जिसन बडी सख्या मे अनुयायियो को लुभाया। तीसरी दुनिया के लोगो की महत्त्वाकाक्षाओ और जरूरतो का सही प्रतिबिम्ब उसमे निहित था। औपनिवेशिक काल और उसके पहने की अवधि म गरीबी अज्ञानता और बीमारी को स्वाभाविक बुराई के रूप मे स्वीकार किया गया और सहा गया, क्योकि उन्हे दूर करने के लिए कुछ खास नहीं किया जा सकता था। स्वतन्त्रता मिलने के साथ तीसरी दुनिया की सरकारो ने गरीबी और उससे जुडी हुई सभी बुराइयो को दूर करने की जिम्मेदारी ली। पश्चिमी स्तर की समृद्धि को पाना दूरगामी लक्ष्य जरूर रहा, पर साथ ही वह एक आदर्श भी बना रहा। क्वामे एनक्रूमा ने कहा, "हम घाना मे दस साल मे वह करेगे जिसे करने मे औरो को सौ साल लगे।" नेहरू ने भी इसी भावना को दोहराया।

बाद मे यह महसूस किया गया कि इस दूरगामी लक्ष्य को पाने मे काफी समय लगेगा। लेकिन कुछ मध्यम दूरी के लक्ष्यो–अधिक आमदनी और अच्छी सामाजिक सेवा–को निश्चित सीमित समयावधि मे प्राप्त किये जा सकनेवाले लक्ष्यो के रूप मे निरूपित किया गया। आधुनिकीकरण के प्रारूप का यह वादा था कि ऐसा हो सकेगा। तीसरी दुनिया का विश्वास था कि आधुनिकीकरण आवश्यक है वांछित है, और सम्भव भी है। इस विचार ने उत्सुकता और उत्साह के साथ स्वीकृति पायी। जो विकास के लिए सहायता द रहे थे, उन्होने भी इस आशा को बडी ही गहरी सूझबूझ के साथ आगे बढाया।

इस अवधारणा का एक दूसरा आकर्षक पहलू यह था कि वह तीसरी दुनिया के उच्च वर्ग और आम जनता दोनो की सवेदनाओ से स्पष्टत जुडी थी। 'आधुनिकीकरण' का पद अपने पूर्ववर्ती शब्द 'पश्चिमीकरण' की अपेक्षा कम मूल्यग्रस्त था। तीसरी दुनिया के अधिकाश देशो को अपनी सास्कृतिक सपदा पर गर्व था और वे उसके साथ गहराई से जुडे हुए थे। समृद्धि के पश्चिमी मापदण्ड

की चाह रखते हुए भी वे अपनी जीवन शैलियो और मूल्यो को छोडना नही चाहते थे। आधुनिकीकरण की अवधारणा ने जनो की शक्ति को पहचाना उसमे तीव्रगामी परिवर्तन की इच्छा करनेवाले लोगो की सास्कृतिक अस्मिता के लिए किसी तरह का प्रकट खतरा नही पैदा किया। तीसरी दुनिया के उच्च वर्ग के लिए पश्चिमीकरण का आदर्श स्वीकारना कठिन था लकिन आधुनिकीकरण को उन्होने तत्काल अपना लिया क्याकि यह अपनी सास्कृतिक श्रेष्ठता की भावना के लिए उन्हे घातक नही लगा। लेकिन शब्दावली का हेर फर आधुनिकीकरण के लक्ष्य और उद्देश्य मे खास बदलाव नही ला सका।

इस अवधारणा के अकादमिक आदर ने भी इसे सरलता से अपनाए जाने मे सहायता पहुचाई। 1960 के मध्य तक यह इतिहास राजनीतिक विज्ञान समाजशास्त्र मनोविज्ञान और अर्थशास्त्र जैसे कई सामाजिक विज्ञानो की सूझ और बौद्धिक ससाधनो का सश्लेषण रहा। हर विषय का निजी योगदान तो था पर एक तरह से यह सम्प्रत्यय खिचडी ही बना रहा। इस सम्प्रत्यय के साथ कई स्थापित और उभरती प्रतिभाएँ भी जुडी। औपनिवेशिक प्रवृत्ति से पूर्णरूप से अपने आपको मुक्त न कर सकी तीसरी दुनिया की मनीषा ने इसे बेहिचक झपट लिया।

अन्तर्राष्ट्रीय सहायता के बढते आश्वासनो से विकास के पश्चिमी विचारो और आदर्शो के पक्ष मे वातावरण निर्मित हुआ। कुछ सहायता मिली भी लेकिन और भी अधिक सहायता की आशा थी। यह भी आधुनिकीकरण के उपागम के 'उत्साहपूर्ण स्वागत के लिए सहायक सिद्ध हुई। विदेशी सहायता के दूरगामी परिणाम का आलोचनात्मक मूल्याकन बाद मे हुआ और उसकी समझ भी बाद मे ही आ सकी।

**आधुनिकीकरण-विशेषताएँ और सकेतक** आधुनिकता को पश्चिमी यूरोप तथा अमेरिका के शहरी औद्योगिक साक्षर और सहभागी समाजो से ऐतिहासिक रूप से जुडी हुई मानव व्यवहार की एक व्यवस्था के रूप मे समझा जा सकता है। यह व्यवस्था एक तार्किक ओर वैज्ञानिक विश्वदृष्टि आर्थिक वृद्धि तथा विज्ञान और तकनीक के अधिकाधिक उपयोग पर आधारित है। उसके साथ नयी विश्वदृष्टि की जरूरतो और उभरते हुए तकनीकी समाज के साथ उनका निरन्तर अनुकूलन भी जुडा है। इन समाजो ने जबर्दस्त आर्थिक विकास किया है और कर रहे हैं हालाँकि आधुनिकीकरण की जडे 15वी और 16वी शताब्दी के यूरोप मे देखी जा सकती हैं। उससे जुडे हुए सर्वाधिक विलक्षण परिवर्तन 19वी सदी के मध्य और अन्त के दशको मे हुए। 20वी सदी के आरम्भ मे एशिया के पहले देश के रूप मे जापान उद्योगीकरण की दौड मे सम्मिलित हुआ। बाद मे रूस और कुछ अन्य देशो ने विभिन्न मात्रा मे अपना आधुनिकीकरण किया। अन्य महत्त्वाकाक्षी देशो ने भी सफलता पायी चाहे वह आशिक ही क्यो न हो और उनमे से कुछ ओर

भी आधुनिकीकरण की दिशा मे आगे बढ रहे हैं।

आधुनिकीकरण की अवधारणा के मूल मे तीन स्थापनाएँ हैं

1 मानव समस्याओ के समाधान और जीवन स्तर के न्यूनतम स्वीकार्य स्तर को बनाये रखने के लिए ऊर्जा के जड ससाधनो का अधिकाधिक दोहन, जिसकी ऊपरी सीमा क्रमश ऊपर उठेगी।

2 लक्ष्य की दिशा मे वैयक्तिक और सामूहिक दोनो ही प्रकार के प्रयास आवश्यक हैं। सामूहिक आयाम इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि साथ मे काम करने की क्षमता ऐसे जटिल सगठनो के सचालन के लिए आवश्यक है जो आधुनिकीकरण के मध्यम और उच्च स्तर तक पहुँचने के लिए अनिवार्य है।

3 जटिल सगठनो के निर्माण और सचालन के लिए क्रान्तिकारी व्यक्तित्व परिवर्तन और तदनुरूप सामाजिक सरचना तथा मूल्यो मे परिवर्तन आवश्यक है।

इस तरह आधुनिकीकरण की जटिल प्रक्रिया मे एक दूसरे को प्रभावित करने वाली और परस्पर निर्भर परिवर्तनो की एक जटिल शृखला निहित होती है। व्यक्तित्व के स्तर पर यह आमतौर पर माना जाता है कि आधुनिकीकरण मे तार्किक क्षमता परानुभूति, गतिशीलता और उच्च सहभागिता निहित है। इन शब्दो के तकनीकी अर्थ का बाद मे विवेचन किया जाएगा। आधुनिकीकृत व्यक्तित्व की ये विशेषताएँ सरचनात्मक, सस्थागत, अभिवृत्तिगत और मूल्य के क्षेत्र मे व्यक्ति, समाज और सस्कृति के स्तरो पर होनेवाले परिवर्तन के द्वारा प्रोत्साहित होती हैं और स्थायी बनती हैं। समाजशास्त्रीय भाषा मे सामाजिक और सास्कृतिक परिवेश क्रमश उपलब्धि, सार्वभौमिकता और विशिष्टता की दिशा मे आगे बढता है। आधुनिकीकृत समाज अधिकाधिक नवाचारो को उत्पन्न और अगीकार करते हैं, साहचर्य की क्षमता बढाते हैं और समाज के समाधान की क्षमता को प्रखर बनाते हैं। आधुनिकीकृत व्यक्तित्व और सामाजिक परिवेश के बीच तालमेल की कमी से कठिन असन्तुलन उत्पन्न हो सकता है। इसीलिए व्यक्तित्व, सस्कृति और सामाजिक व्यवस्थाओ मे परिवर्तनो मे सामजस्य और अन्तःसम्बन्ध अनिवार्य है। आधुनिकीकरण के सन्दर्भ मे इन परिवर्तनो को ऐसे जटिल सगठनो के विकास की पूर्वस्थिति के रूप मे देखा जाना चाहिए जो जड ससाधनो से मानव कल्याण और समृद्धि के लिए प्रभावी रूप से ऊर्जा का दोहन करते हैं।

प्रारूप की दृष्टि से आधुनिकीकरण की सर्वाधिक अनिवार्य विशेषता तार्किक विचार की क्षमता है। हालाँकि इस शब्द का बहुत अधिक उपयोग हुआ है, फिर भी इसकी कोई सर्वस्वीकृत और परिशुद्ध परिभाषा कहीं भी नहीं मिलती। तार्किक विचार की क्षमता व्यक्ति के स्तर पर सोचने की प्रक्रिया मे बदलाव लाती है और समाज के समग्र सस्थागत ढाँचे मे फैल जाती है। घटनाएँ और परिस्थितियाँ कार्य और कारण के रूप मे समझी जाती हैं और लक्ष्य तथा उपादान की गणना के

द्वारा काम करने के तरीके या युक्तियो को तय किया जाता है। पारम्परिक विश्वदृष्टि लौकिक घटनाओ को पारलौकिक मुहावरे मे समझती और निरूपित करती है। आधुनिकीकरण इस विश्वदृष्टि के स्थान पर एक वैज्ञानिक दृष्टि को प्रतिष्ठित करता है। फलत मिथकीय और आधिदैविक व्याख्याएँ नकार दी जाती हैं और हम एक ऐसे मोड पर पहुँचते हैं जहाँ अधिकाश मानवीय क्रिया कलापो के लिए वे अनुपयोगी हो जाती हैं। यह बदलाव केवल व्यक्ति के स्तर पर सोचने तक ही सीमित नही रहता बल्कि उन सस्थाओ की क्रिया प्रणाली मे भी परिलक्षित होता है जो समाज के लक्ष्यो और उन लक्ष्यो तक पहुँचने के तरीको को निर्धारित करते हैं। तार्किक विचार प्रक्रिया मानव-अन्त क्रिया के सभी रूपो को रेखाकित करती है और व्यक्तियो के भविष्य के प्रति दृष्टिकोण तथा उन लक्ष्यो को तय करने मे भी महत्वपूर्ण हो जाती है जिन्हे पाने के लिए व्यक्ति अपने जीवन मे सतत सघर्ष कर रहा होता है। इस बदलाव के साथ पैदा होनेवाले सरचनात्मक और मूल्यो मे परिवर्तन समूचे सास्कृतिक परिसन्दर्भ मे आधारभूत परिवर्तन लाते हैं।

गम्भीर अन्तःशास्त्रीय अध्ययनो के फलस्वरूप आधुनिकीकरण की विशेषताओ की एक प्रभावशाली सूची तैयार हुई है। इसमे व्यक्ति उनकी अभिवृत्तियाँ और मूल्य सम्मिलित हैं। यह समाज और मूल्यो की रूपरेखा और उनके अवयवो तक विस्तृत है। इसमे समाज के लिए एक नया भविष्य प्रस्तावित है प्राचीन सस्थाओ के नये प्रकार्यो की योजना है और नये सस्थागत तरीको से समाज के पुनर्निर्धारित लक्ष्यो तक पहुँचने के लिए नयी सस्थाओ के निर्माण की पहल है।

लर्नर (1958) के अनुसार आधुनिकीकृत व्यक्तित्व की तीन विशेषताएँ हैं–परानुभूति गतिशीलता और उच्च सहभागिता। व्यक्ति सामाजिक परिदृश्य के प्रत्यक्षीकरण के आधार पर घटनाओ और परिस्थितियो के बारे मे प्रतिक्रिया करता है। एक आधुनिक व्यक्ति जिसमे परानुभूति विद्यमान रहती है इस बात को भी ध्यान मे रखेगा कि अन्य व्यक्ति घटनाओ एव परिस्थितियो का किस तरह प्रत्यक्षीकरण कर रहे हैं दूसरे शब्दो मे परानुभूति दूसरो के दृष्टिकोण से स्थितियो को देखने की क्षमता है। सभी समाजो मे यह क्षमता कुछ न कुछ मात्रा मे विद्यमान रहती है परन्तु इसे पैना बनाने और दृढ करने से मानवीय अन्त क्रिया म गुणात्मक परिवर्तन आ सकता है। ऐसा परिवर्तन आधुनिकीकृत समाजो के लिए वाछित है।

दूसरी विशेषता–गतिशीलता–केवल भौतिक गतिशीलता को ही नही व्यक्त करती है। यह अधिक व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त है। आधुनिक जगत् सतत और तीव्र परिवर्तनवाला है। इसमे कोई व्यक्ति मूलभूत प्रस्थिति और सम्बन्धित भूमिकाओ से स्थायी रूप से नहीं बँधा रहता जिसके लिए उसे आरम्भ मे सामाजीकरण द्वारा तैयार किया गया था। परिवर्तन का आग्रह ऐसी क्षमता है जो

अवसर के अनुरूप नये पदो और भूमिकाओ को अपनाने और सीखने के लिए समर्थ बना सके। प्रस्थिति और भूमिका मे बदलाव लाने की क्षमता के लिए मानसिक गतिशीलता जरूरी है। परम्परागत समाज से अलग, जिसमे आरोपित पद और भूमिकाएँ होती हैं आधुनिकीकृत समाज मे एक खुली पद व्यवस्था होती है। इसके साथ अनुकूलन के लिए व्यक्ति मे एक पद स दूसरे पद और सम्बन्धित भूमिकाओ को आसानी से अपनाने की क्षमता होनी चाहिए। गतिशील व्यक्तियो के अभाव मे आधुनिकीकरण की प्रक्रिया बाधित होती है।

परम्परागत ढाँचे म सामाजिक लक्ष्यो, उन्हे पाने के उपायो और उनके साथ जुडी पूर्वनिश्चित भूमिकाओ को स्वीकार करने के लिए व्यक्ति बाध्य था। सामाजिक लक्ष्यो के बार म कोई सन्देह नहीं था, उपायो मे आसानी से बदलाव सम्भव नहीं था और परम्परा द्वारा निश्चित क्रम को किसी व्यक्ति के लिए पार करना आमतौर पर सरल नही था। इस तरह व्यक्ति सामाजिक लक्ष्यो और उन्हे पाने के तरीको क बारे म निष्क्रिय था। इसके कारण आधुनिक समाज मे बहुत बडे पैमाने पर बदलाव दिखता है। आज्ञानुगामी व्यक्ति सक्रिय और सहभागी होकर सामाजिक सरोकारो से जुड जाता है और उनके बारे मे खुले मन स अपने विचार बनाता है। व्यक्ति अपना मत बनाता है और रखता है, निर्णय की प्रक्रिया मे भागीदारी का अधिकार रखता है और परिणामो तक पहुँचने से जुडे कार्य मे सक्रिय रूप से हिस्सा लेता है जिसमे उसके अपने मूल्याकन और निर्णय झलकते हैं। कहना न होगा कि एक आधुनिकीकृत समाज मे व्यक्ति से उच्च स्तर की सहभागिता अपेक्षित है।

परानुभूति, गतिशीलता और उच्च सहभागिता की विशेषताओवाले व्यक्ति का विकास कुछ वाछित अभिवृत्तियो और मूल्यो से भी जुडा होता है। इनमे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है उपलब्धि की अभिप्रेरणा–उपलब्धि के साथ जुडे पुरस्कार से असम्पृक्त (मैक्लिलेंड, 1976)। व्यक्तियो के व्यक्तित्व मे वाछित परिणामो को पाने के लिए सघर्ष की क्षमता भी पैदा करनी होती है (कैंट्रिल, 1965)। आरम्भिक अवस्था मे उन्हे सभी नागरिको म पाया जानेवाला सार्वभौमिक गुण नहीं माना जा सकता फिर भी एक महत्त्वपूर्ण अल्पसख्यक समूह म यह निश्चित रूप म विद्यमान होना चाहिए। समाज के आधुनिकीकरण के साथ इस अल्पसख्यक समूह का आकार बढगा। इतना ही महत्त्वपूर्ण है परिवर्तन की वाछनीयता और उसकी सम्भावना म आस्था। वर्तमान परिस्थिति से एक हद तक असन्तोष भी आवश्यक है। यह वाछित दिशा म परिवर्तन के लिए मानवीय हस्तक्षेप की क्षमता मे दृढ विश्वास के द्वारा पुष्ट होना चाहिए। अत परम्परागत या अशत परम्परागत ढाँचो की खामियो को पहचाना जाना चाहिए, नये ढाँचे की रूपरेखा प्रस्तुत की जानी चाहिए और वाछित परिवर्तन लाने के लिए आवश्यक हस्तक्षेप कर सकने की मनुष्य

की क्षमता मे विश्वास को दृढ़ करना चाहिए। जब तक ऐसा नही होता आधुनिकीकरण की दिशा में आवश्यक निर्णायक कदम के लिए अपेक्षित उद्दीपन नहीं हो सकता। धन कार्य बचत और जोखिम उठाने की नयी अभिवृत्ति को विकसित करना आवश्यक है। आधुनिकीकरण क लक्ष्यो को व्यक्ति और उनके परिवारो के कल्याण और समृद्धि के साथ सीधे सीधे जुडा रहना चाहिए। उन्हे ठोस तरीके से यह भी सोचना चाहिए कि राष्ट्रीय सपदा मे वृद्धि के लिए परिश्रम करने से उन्हे और उनके परिजना को भी सार्थक प्रतिफल प्राप्त होगा। इस तरह की सोच से काम के प्रति नया दृष्टिकोण विकसित होगा आर समर्पण तथा अनुशासन की नयी भावना आयेगी। धन की नैमित्तिक उपादेयता और कार्य के साथ इसके सम्बन्ध के फलस्वरूप धन के उपयोग के सुपरिभाषित मापदण्ड का भी विकास होना चाहिए। यह अनुभव करना कि धन से और धन उत्पन्न होगा तात्कालिक आवश्यकतापूर्ति को विलम्बित करने की क्षमता बचत को प्रोत्साहन और उद्यमी प्रवृत्ति का प्रर्वतन होना आवश्यक है। सुचिन्तित गणना करने और विकल्प चुनने मे कुछ जान बूझकर जोखिम भी उठाने होगे क्योकि उद्यम कभी भी शत प्रतिशत सुरक्षित नही हो सकता। इन अभिवृत्तियो और मूल्यो को अपना कर समाज आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को तीव्र करने की आशा रख सकता है।

व्यक्ति के व्यक्तित्व और विचार प्रक्रिया मे परिवर्तन सामाजिक व्यवस्था इसकी दिशा और इसके महत्त्वपूर्ण पहलुओ मे परिवर्तन लाते हैं ना व्यक्तित्व मे परिमार्जन को सहज बनाते हैं और उद्दीप्त करते हैं। पारसन्स के सुपरिचित सरूप परिवर्त्यो को लेकर आधुनिकीकरण उनमे से तीन मे मुख्य परिवर्तन लाता है। प्रथम आरापित मापदण्ड के स्थान पर उपलब्धि के आधार पर प्रस्थिति निर्धारित होती है। द्वितीय अन्तक्रिया का सरूप विशिष्ट मानको के स्थान पर सार्वभौमिक मानको द्वारा नियमित होता है। दूसरे शब्दो म सार्वभौमिक सरोकार सम्बन्धो के लिए मानकीय आधार प्रदान करते हैं। तृतीय भूमिका सम्बन्धो की व्यवस्था मे प्रत्याशाएँ तथा कर्तव्य अधिक विशिष्ट हो जाते हे ओर परम्परागत व्यवस्था के अविभेदित स्वरूप के स्थान पर प्रतिष्ठित होते हे। आधुनिक समाज सज्ञानात्मक दृष्टि से विवेकसम्मत सदस्यता की दृष्टि से सावभौमिक प्रमुख परिभाषिक दृष्टि से विशिष्ट प्रकार्योवाला भावात्मक दृष्टि स तटस्थ लक्ष्य की दृष्टि से व्यक्ति केन्द्रित और स्तरीकरण की दृष्टि स पदानुक्रमिक है। समाज की इकाइयाँ अधिक विशिष्ट और स्वय म पर्याप्त हो जाती ह ओर केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण का सयोग होता है तथा विनिमय और बाजार का केन्द्रीकृत माध्यम पनपता है। भूमिका प्रभेदन एकता और एकजुटता की प्रवृत्ति प्रबल होनी है। आधुनिक समाज आइन्सटाट (1966) के अनुसार सर्वस्वीकृत जनसमाज के रूप मे उभरता हे और अन्ततोगत्वा एक राष्ट्र का आकार लेता हे।

राजनीतिक आयाम म भी परिवर्तन आते हैं। आधुनिकीकृत समाजो म रुचियो का अधिक स्पष्ट स्वरूप निर्धारित होता है, सशक्त रुचि समूह बनते हैं, और राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता सस्थागत रूप ले लेती है। राजनैतिक सचार के ताने बाने धीरे धीरे विकसित और दृढ होते हैं तथा सहभागी निर्णय लेने के लिए सस्थाओ के निर्माण पर बल दिया जाता है।

आधुनिकीकृत समाज ऐसी सस्थागत सरचनाओ के द्वारा सचालित होते हैं जो आज की प्रक्रिया म निहित परिवर्तनो का निरन्तर आत्मसात् करने की क्षमता रखती है। सर्व स्वीकृतिवाले जनसमाज म, जिसका उल्लेख किया गया है जनसख्या का एक बडा हिस्सा आता है और वह निर्णय की महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाओ म भाग लेता है। जटिल सगठनो की एक शृखला-विशिष्ट और प्रभेदित, अपक्षाकृत आत्मनिर्भर और प्रकार्यात्मक विशिष्टतावाली जो विभिन्न क्षत्रो म कार्यो का निर्वाह करती है, नये ज्ञान का उत्पादन और मानव परिस्थितियो एव समस्याओ के लिए उसका उपयोग, नयी परिस्थितियो एव समस्याओ के लिए प्राचीन ज्ञान का अनुकूलन, ज्ञान का प्रसार और बँटवारा, उसका उपयोग, नियोजन (ससाधनो का सचालन और विभाजन) तथा परिवर्तन का प्रबन्धन (बाधाओ और कमियो को सँभालना और भविष्य की प्रवृत्तियो का अनुमान और सम्भव समस्याओ को जानना और उनसे निपटने के तरीको का विकास) आपदा समाधान और व्यापक स्तर की गडबडियो को सुलझाना, पूँजी निर्माण तथा महत्त्वपूर्ण दिशानिर्देशो का निर्माण इत्यादि। जीवन के सगठनात्मक सन्दर्भ म भी इसके समानान्तर महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आते हैं। परिवार और नातेदारी पर आधृत सगठन अधिक सीमित रूप से परिभाषित होते हैं तथा शासन और सम्बन्धित इकाइयो-जैसे नौकरशाही आर्थिक और वित्तीय सस्थाएँ, सेनाएँ और विशिष्ट क्षेत्र-जैसे शिक्षा स्वास्थ्य, आवास परिवहन और मनोरजन आदि में जुडे सगठनो की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

आधुनिकीकरण के आर्थिक आयाम का महत्त्व भी कम नही आँका जा सकता। सच तो यह है कि इस क्षेत्र म सफलता या विफलता ही अन्ततोगत्वा आज के समग्र कार्यक्रम की नियति को निर्धारित करती है। आर्थिक सस्थाओ के लिए एक उपयुक्त प्रशासनिक और कानूनी सरचना तथा एक सक्षम मौद्रिक तथा बैंक सरचना के ढाँचे के द्वारा समर्थन आवश्यक है। बचत के लिए अवसर और पूँजी निर्माण के लिए मौका भी होना चाहिए। अर्थ-व्यवस्था आत्मनिर्भरतावादी तथा विकास को स्वय धारण करनेवाली होनी चाहिए, जो उत्पादन और उपभोग को बढा सके।

यह प्रारूप कुछ ऐसी विशेषताओ पर बल देता है जो आधुनिकीकरण के अनिवार्य सकेतक हैं। ये विशेषताएँ किस तरह अर्जित की जा सकती हैं, इसके

बारे मे प्रारूप मौन है कोई सुविचारित क्रमबद्ध उपाय नही सुझाया गया है और न स्पष्ट चरणो का उल्लेख ही हुआ है। कुछ महत्त्वपूर्ण सहसम्बन्ध अवश्य प्रस्तुत किये गये हैं। *उदाहरणार्थ आधुनिकीकरण और साक्षरता की दर तथा जनसचार* माध्यमो और नगरीकरण के स्तर के साथ उच्च सहसम्बन्ध पाया गया है। इनसे कुछ सुझाव तथा आधुनिकीकरण की दिशा म कार्य करने के लिए दिशानिर्देश भी मिलता है।

जो स्पष्टत नही कहा गया है उसके बारे मे अनुमान लगाना होगा। शिक्षा और सचार माध्यमो को अभिवृत्ति और मूल्यो मे परिवर्तन लाने के लिए प्रभावी ढग से उपयोग मे लाना होगा। सरचनात्मक बदलाव के लिए जनमत का दबाव और सोद्देश्य प्रशासनिक कार्य आवश्यक होगा। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया मे निहित विशिष्ट और प्रभेदित कार्यो के सपादन के लिए सस्था निर्माण की दिशा मे कल्पनाशील और व्यवस्थित प्रयास होने चाहिए। यह प्रारूप इसके आगे नही जाता कार्य के लिए यह कोई खाका नहीं उपलब्ध कराता।

**बाधाएँ और अवरोध** जब यह अवधारणा शैशवावस्था म थी तभी आधुनिकीकरण के मार्ग मे आनेवाली सम्भव बाधाओ को पहचानना और उनका अनुमान लगाना कठिन नहीं था। वस्तुत जब इसे तीसरी दुनिया को पहली बार दिया जा रहा था तभी चतावनी के कुछ स्वर उभरे थे परम्परा की शक्तिया बिना अनेक सघर्षो क नहीं झुकती प्राचीन लगाव समय समय पर सिर उठाएगे जिससे राष्ट्र निर्माण कठिन होगा परम्परा के प्रति निष्ठा और आधुनिकीकरण के प्रति प्रतिबद्धता के बीच खिचे हुए तीसरी दुनिया के अभिजात वर्ग के लडखडाने तथा प्रयास की गति को क्षीण करने की अधिक सम्भावना है आधुनिकीकरण के कार्यक्रमो के बेढगे तथा अकुशल नियोजन तथा प्रबन्धन उनकी प्रगति को रोक सकते हैं यहा तक कि अपेक्षाकृत सफल कार्यक्रमो को भी अप्रत्याशित रूप से ऐसे मोड पर कट्टरपथी प्रतिक्रियाओ का सामना करना पड सकता है। इनमे से अधिकाश दलीलो पर ध्यान दिया गया है पर यह स्मरण रखना होगा कि सभी प्रत्याशित बाधाएँ और आधुनिकीकरण के ह्रास के सम्भव कारण अनिवार्यत उन्हीं समाजो मे दिखे जो अपने को आधुनिकीकृत करने की आकाक्षा कर रहे थे। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को रोकनेवाले बाह्य कारको और शक्तियो को ध्यान मे नहीं रखा गया था।

बाद के अनुभव ने इन पूर्वाभासो की पुष्टि की। आधुनिकीकरण के वादे और कामयाबी के बीच की दूरी इतनी अधिक थी कि उससे ध्यान हटाना सम्भव नही था। घोषित लाभ कही नही दिखे और समृद्धि तीसरी दुनिया से दूर भागती रही। ऊँची अभिलाषाओ की क्रान्ति का बढती हुई कुठा के पारावार म बदल जाने का खतरा था। परिणामो के अभाव ने व्यापक जनसमुदाय मे विरक्ति या

आक्रोश को जन्म दिया और आधुनिक बनते अभिजात वर्ग को सशय मे डाल दिया। गलती क्या हुई ? और कहाँ हुई ? चीजे प्रत्याशित दिशा मे क्यो आगे नही बढ़ीं ? आधुनिकीकरण की बाधाएँ जो अकादमिक रुचि का विषय थी, अब महत्त्वपूर्ण निदानात्मक सरोकार बन गयीं और यह सब उस समय हुआ जब आधुनिकीकरण के सम्प्रत्यय मे सैद्धान्तिक परिष्कार हो रहे थे।

आधुनिकीकरण के कार्यक्रमो ने आवश्यक सस्थागत परिवर्तन लाने की कोई गम्भीर चेष्टा किये बिना ही नई तकनीको को लाने का प्रयास मुख्य रूप से किया। सस्थागत परिवर्तन की आवश्यकता तो अवश्य अनुभव की गयी पर अनेक कारणो से इस क्षेत्र मे कार्यक्रमो को या तो निलवित रखा गया या फिर उन्हे निम्न प्राथमिकता दी गयी। दूसरे शब्दो मे समाज के पारम्परिक ढाँचे को आधुनिकीकरण के लक्ष्यो को पाने की दिशा मे उन्मुख किया गया। परन्तु आधुनिकीकरण, जैसा कि ई सी ब्लैक (1966) ने बडे स्पष्ट शब्दो मे कहा है "वह प्रक्रिया है जिससे ऐतिहासिक रूप से उत्पन्न सस्थाएँ तेजी से बदलती हुई नयी जिम्मेदारियो के साथ अनुकूलित होती है, जिसमे वैज्ञानिक क्रान्ति से जुडी अपने परिवेश पर नियन्त्रण की क्षमतावाले मनुष्य के ज्ञान मे अभूतपूर्व वृद्धि परिलक्षित होती है।'

अनुकूलन की प्रक्रियाओं को ज्यादातर स्वतन्त्र छोड दिया गया, ताकि वे स्वय अपना नया आकार ग्रहण करे। उनको कोई निर्देश या दिशा नहीं दी गयी, क्योकि ऐसा करने के लिए बहुत अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं थी। शिक्षा पिछडी हुई थी, आधुनिक जनसचार माध्यम ठीक से विकसित नही थे, परिवहन के साधन आदिम थे, जनस्वास्थ्य के मापदण्ड अत्यन्त निम्न स्तर के थे, और विकास के जटिल कामा की जिम्मेदारी ढो सकनेवाले प्रशिक्षित कर्मियो से युक्त औपचारिक सगठन अत्यन्त आरम्भिक अवस्था मे थे। विकास की प्रक्रिया की जटिलताएँ पूरी तरह से नहीं समझी गयीं, उनका आरम्भिक और व्यापक आयाम एक अज्ञात क्षेत्र ही बना रहा। ऐसे मे नेतृत्व और विकास की नौकरशाही दोनो ही कमियो और आघातो को झेलने के लिए तैयार नहीं थे। आकर्षक वादो को पूरा करना उनके लिए कठिन हो रहा था।

अपने पिछले अनुभव से पाये गये ज्ञान से आधुनिकीकरण के मार्ग मे आने वाली बाधाओ को पहचानने और समझने का प्रयास किया गया। विकासशील समाजो की वैचारिक, अभिप्रेरणात्मक, सस्थागत और सगठनात्मक कमियो का निदानात्मक प्रयास करके विश्लेषण किया गया। जाहिर है, इन प्रयत्नो से कुछ सकारात्मक सुझाव पा सकने की आशा थी।

**वैचारिक बाधाएँ :** उपनिवेश विरोधी और साम्राज्यवाद विरोधी सघर्षो ने तीसरी दुनिया के अधिकाश देशो मे राष्ट्रीयता की भावना को जन्म दिया, परन्तु इनमे से कुछ ही वास्तविक और पूर्ण राष्ट्रीय एकता प्राप्त कर सके। विदेशी प्रभुत्व

के खिलाफ राष्ट्रवादी भावना ने अनेक विभाजनशील प्रवृत्तियो का अस्थायी रूप से दबा दिया था स्वतन्त्रता मिलने के साथ विभिन्न तरह की उपराष्ट्रीयताएँ (जातीय भाषिक क्षेत्रीय और धार्मिक) सिर उठाने लगी। राष्ट्रीय एकता के कमजोर ताने बाने ने उभरती राष्ट्रीयता के प्रभावो को क्षीण कर दिया जिसने विकास के लिए वैचारिक प्रेरणा को भी कमजोर किया।

अधिकाश विकासशील समाजो ने अस्पष्ट खाके और परस्पर विरोधी लक्षणो के साथ आधुनिकीकरण क कार्यक्रमो को शुरू किया था। कुछ समाजो मे एक आदर्श अतीत की ओर वापस लौटने की प्रवल इच्छा थी दूसरा मे परम्परा के कुछ पक्षो को पुनरुज्जीवित करने की चेष्टा हुई। ट्रैक्टर वाछित था पर हल बैल का असन्दिग्ध रूप से आदर्श माना गया। प्रजातन्त्र धर्मनिरपेक्षता और समाजवाद के आधुनिक आदर्शो को सामने रखा गया परन्तु उसी समय अभिजात वर्ग और सामान्यजन दोनो ही अतीत के स्वर्णयुग की ओर भी देखते रहे। कई स्थितियो मे पीछे की ओर लौटने का सम्मोहन और वाछित भविष्य दोनो ही बडे दृढ थे। इसका परिणाम था अस्पष्टता सशय और विकास के लक्ष्यो के निर्धारण मे अन्तर्विरोध। ऐसी वैचारिक रूपरेखा प्राय परम्परा और आधुनिकता के बीच बेमेल और एक अनगढ समझौता सिद्ध हुई।

आधुनिकीकरण के लक्ष्य जैसे भी रहे वे प्राय आम जनता तक नही पहुँच सके। इसका कारण शायद अभिजात वर्ग और सामान्य जनसमुदाय के बीच अनुपयुक्त और अधकचरा सचार था। सचार के माध्यम दूसरे उद्देश्यो से विकसित किए गए थे और विकास के बारे मे उनका सन्देश प्रस्तुतीकरण शायद ही कभी प्रभावशाली रहा। फलत आधुनिकीकरण के जिन लक्ष्यो को अभिजात वर्ग ने बनाया जनसमुदाय द्वारा उनकी स्वीकृति के बीच बहुत कम तालमेल रहा। उदासीन और अप्रभावी सचार ने वैचारिक स्पष्टता को क्षीण किया।

इस सन्दर्भ मे हमे आधुनिकीकरण के तात्कालिक और अन्तिम लक्ष्य के बीच तालमेल या उसके अभाव की भी जाँच करनी चाहिए। अन्तिम लक्ष्य तो बडी व्यापक और रोचक कल्पना थी परन्तु तात्कालिक लक्ष्यो को तय करने मे और निकट भविष्य के लिए लक्ष्य बनाने मे बहुत से कामचलाऊ समझौते करने पडे जो सारे प्रयास को ही विफल करनेवाले थे। यदा कदा इसका परिणाम आधुनिकीकरण के लक्ष्य से दूर ले जानेवाला प्रतीत हुआ।

अन्त मे हमे अभिजात वर्ग और नेतृत्व की कथनी और करनी के बीच नाटकीय विरोध पर भी विचार करना होगा। अनेक देशा मे इन्होने अपने को शक्ति के स्थान पर रखा और अपने चारो ओर सुख सुविधाओ का ढेर लगा दिया। *वे परम्परा के लाभो को छोड़ने को तैयार नहीं थे और आधुनिकीकरण के सारे* लाभो को अपने लिए खीच लेना चाहते थे। गरीबो के लिए यह अवसर एक अनबूझ

पहेली बन गया। वे यह नहीं समझ पाते थे कि किस पर विश्वास करे और किस पर नही। इसकी स्वाभाविक परिणति आधुनिकीकरण की विचारधारा की साख मे कमी के रूप मे हुई। यह उल्लेखनीय है कि अभिजात वर्ग ने अपने लोकप्रिय और क्रान्तिकारी स्वर के बावजूद सस्थागत परिवर्तन लाने के प्रश्न से हाथ खींच लिये।

**प्रेरणात्मक बाधाएँ :** प्रेरणात्मक स्तर की बाधाएँ भी अनेक और जटिल थीं। वे अधिकाशत निम्नस्तरीय वैचारिक आधार की परिणति थीं। तीसरी दुनिया की जनता आमतौर पर अपने मानसिक क्षितिज मे सीमित थी और निम्न उपलब्धि की अभिप्रेरणावाली थी। उनके दिमाग मे यह विश्वास कि 'समाज को बदलना चाहिए और बदला जा सकता है' तथा 'परिवर्तन वाछित और आवश्यक है' जडे नहीं जमा सका। आधुनिकीकरण के प्रयास मे भाग लेने की उनकी इच्छा का व्यापक प्रसार नहीं हो सका। सच तो यह है कि गरीबो की उन कार्यक्रमो को निर्धारित करने मे जो उनके लाभ के लिए बनाये गये थे, कोई भूमिका नहीं थी, वे अपने ही नाम पर खेले जा रहे नाटक के मूकदर्शक थे। विकास की योजनाएँ बडे तामझाम के साथ शुरू हुई पर उस प्रयास की निरन्तरता को बनाये रखने की कोई तरकीब नहीं थी, इसलिए इन योजनाओ से वाछित परिणाम नहीं मिल सका।

सामाजिक अनुशासन की कमी आधुनिकीकरण के कार्यक्रमों का सफलतापूर्वक लागू करने मे दूसरी बाधा थी। व्यापक राष्ट्रीय लक्ष्यो और सीमित क्षेत्रीय जरूरतो के बीच प्राय विरोध था। दूसरे के लिए अपनाये गये उपाय अधिकतर विचलन जैसे थे। दृढ स्वीकृति और जोरदार कार्यान्वयन के अभाव मे अनियमितता तथा सकीर्ण प्रवृत्तियाँ पनपीं। दुर्लभ राष्ट्रीय ससाधनो को नष्ट किया गया और शासन असहाय दर्शक बना रहा। इस प्रवृति ने आर्थिक विकास के राष्ट्रीय प्रयासो से जो कुछ भी थोडी बहुत उपलब्धि थी, उसे अशत व्यर्थ कर दिया।

सकीर्ण ओर राष्ट्रीय दबावो और अल्पकालिक दीर्घकालिक रुचियो की खीचतान के बीच खण्डित आम जनता इन दोनो के बीच झूलती रही। दृढ आधुनिकीकरण की कोई चेष्टा कभी भी नही हो सकी। यहाँ तक कि अपवाद रूप मे जब कभी यह हुई तो प्रेरणा को सुदृढ नहीं किया जा सका।

**सस्थागत बाधाएँ :** यह तर्क दिया गया है कि तीसरी दुनिया के समाजो का सस्थागत ढाँचा, जिसकी मुख्य विशेषताएँ हैं—आरोपण, विशिष्टता, भावात्मकता और बिखरी हुई प्रत्याशाएँ, आधुनिकीकरण के लिए बहुत उपयुक्त नही था। पीछे मुडकर देखने पर यह लगता है कि सरचनात्मक बदलाव और सस्थागत परिवर्तन के लिए कितनी कम कोशिश हुई है, जो कोशिशे हुई वे अत्यन्त निम्नकोटि की थी और दोषपूर्ण थी। अपना मतलब साधनेवाले आधुनिकीकृत हो रहे अभिजात

समुदाय के विभिन्न वर्गो ने कुछ परिवर्तनो का जबर्दस्त ढग से रोक दिया। विपन्नता की सस्कृति मे विद्यमान अत्यन्त क्षीण सुरक्षा ने इसे दूर करने के लिए किये जानेवाले सरचनात्मक और सस्थागत बदलावो के विरुद्ध कार्य किया। आम जनता की विचार प्रक्रिया और काम की आदता मे पवित्रता पर बल ने तार्किक विचारधारावाली नयी अभिवृत्ति के उद्भव को अनुमति नही दी। प्रकार्यात्मक रूप से किसी समान व्यवस्था के अभाव मे धार्मिक कृत्य अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाये रहे। अन्त मे राजनीतिक प्रशासनिक व्यवस्थाओ तथा सामाजिक व्यवस्था के बीच प्रबल विसगतियाँ रही और बावजूद इसके इनके बीच आश्चर्यजनक गठबन्धन बना रहा। इस सन्दर्भ मे भारत मे जाति और प्रजातन्त्र का निकट सम्बन्ध उल्लेखनीय है। कुछ महत्त्वपूर्ण अर्थो मे ये दोनो एक दूसरे के परस्पर विरोधी हैं फिर भी भारतीय राजनीति मे आपसी सहयोग प्रदर्शित करते हैं।

**सगठनात्मक बाधाएँ** तीसरी दुनिया के अधिकाश देशो मे स्थानीय और राष्ट्रीय राजनैतिक प्रक्रियाएँ सगठित नही थी सूक्ष्म और व्यापक राजनैतिक प्रक्रियाओ के बीच सम्पर्क बडा कमजोर था। इनके बीच सगठन लाने के निरुत्साही और प्राय अकल्पनाशील प्रयास का कोई ठोस और विशेष लाभ नही मिल सका।

प्रशासन की पहुँच सीमित थी और कई कारणो से वह पगु बना रहा। व्यवस्था के दबाव इतने जबर्दस्त थे कि **वेबर** के आदर्श गुणो जैसी जनसेवा व्यवस्था प्राप्त करना कठिन हो गया। व्यवस्था की जरूरते और नये राजनैतिक अभिजात वर्ग के बेतुके और अविचारित निर्देश ने तार्किक नियमो के आधार पर काम करने को कठिन बना दिया। इसके अतिरिक्त कर्मचारियो मे प्रशिक्षण की कमी थी और आधुनिकीकरण के कार्यक्रम द्वारा उपेक्षित आदर्शवाद के लिए जरूरी अनुभव और जानकारी भी नही थी।

सस्थागत न्यूनता और गरीबी आधुनिकीकरण के सभी महत्त्वपूर्ण प्रकार्यात्मक क्षेत्रो मे स्पष्टत परिलक्षित थी। या तो अपेक्षित सस्थाएँ ही नही थी या वे गम्भीर दोषो से ग्रस्त थी जिनके कारण उनका काम धाम निम्न स्तर का था। नियोजन और सचार को मुख्य क्षेत्र माना गया लेकिन दोनो मे कई महत्त्वपूर्ण कमियाँ थी। विकास की तकनीके अनुकरणमूलक और अनुपयुक्त थी और विकास के कार्यक्रम मे स्थानीय और क्षेत्रीय वरीयताओ के लिए कोई विशेष स्थान नही था। इस बात की व्याख्या आशिक रूप मे ही सही इन देशो द्वारा प्रभावशाली नियोजन की प्रणाली और उपाय विकसित करने मे असफलता के आधार पर होती है। सचार का विकास–राजनैतिक और विकासात्मक क्षेत्र मे अपर्याप्त और अनुपयुक्त था क्योकि इसके लिए सही सस्थागत आधार सरचना नही बनायी जा सकी। नये ज्ञान और प्रविधि के उत्पादन जिसमे तकनीक का अपनाया जाना भी सम्मिलित है मे भी बहुत सुधार की आवश्यकता थी। यही हाल अन्य महत्त्वपूर्ण

क्षेत्रो और कार्यों का भी था। उपयुक्त संस्थागत आधार का निर्माण अभीष्ट था, पर नेतृत्व मे इसके लिए आवश्यक कल्पनाशीलता और राजनैतिक इच्छा की कमी थी।

अन्य कारणो के अतिरिक्त ये बाधाएँ विकासशील समाजो मे आधुनिकीकरण की अवरुद्ध और सन्दिग्ध प्रगति की व्याख्या करती हैं। हालाँकि मोटे तौर पर कठिनाइयो को पहचाना गया, लेकिन उनके सही और सटीक निदान का बहुत कम प्रयास हुआ। उपचार का पहलू सन्देह और अनिश्चय से ग्रस्त रहा और आधुनिक हो रहे अभिजात वर्ग के लिए निरन्तर चुनौतियो की शृखला उपस्थित करता रहा।

**प्रारूप का पतन :** आधुनिकीकरण के उपागम का जीवन सक्षिप्त पर यशस्वी था। लगभग एक दशक तक पश्चिम मे और तीसरी दुनिया के कई हिस्सो मे यह बडा ही प्रभावी रहा। 1950 के दशक के अन्तिम भाग और 1960 के दशक के मध्य तक यह अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच चुका था। 1960 के दशक के अन्त तक आते-आते यह अपना आकर्षण खोने लगा था। बढ़ती हुई बहुशास्त्रीय आलोचना के कारण इसे अपनी पहले जैसी महत्त्वपूर्ण स्थिति बनाये रखना कठिन हो गया। सन् 1970 के मध्य तक तीसरी दुनिया के लिए वाछित, इच्छित और सम्भव भविष्य के प्रश्न के बारे मे अनेक सिद्धान्त गहराई से और परिशुद्धता के साथ जाँच के लिए सामने आये, जिन्होने इसकी खामियो को उभारा। इस प्रक्रिया मे आधुनिकीकरण की अवधारणा रहस्यमुक्त हुई। सातवे दशक के अन्त तक यह अपने विश्लेषण के महत्त्व और भविष्यकथन के लिए उपयोगिता के कारण कम और आदत के आधार पर अधिक किसी तरह घिसट रहा था, पर इसके गिने-चुने दिन ही शेष थे।

पीछे मुड़कर देखने पर ऐसा लगता है कि इस अवधारणा ने उपयोगी किन्तु सीमित भूमिका निभाई। शायद इस विराट् के प्रयास का सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम था व्यक्तित्व के गुणो, मूल्य-अभिविन्यास और विज्ञान तथा तकनीक के उपयोग द्वारा सामाजिक बदलाव तथा उच्च आर्थिक विकास से जुडी सामाजिक विशेषताओ की पहचान, जो पहले प्रकट हुई पश्चिमी यूरोप एव उत्तरी अमेरिका मे और बाद मे आधुनिकता के परिक्षेत्र मे कुछ अन्य देशो मे। व्यक्तित्व और सामाजिक गुणो की सूची वस्तुत उपयोगी थी और इनमे से अधिकाश गुणो का उल्लेख विचारपूर्ण था। इसमे थोडा भी सन्देह नहीं कि इनमे से अधिकाश गुण आधुनिकीकरण की प्रक्रिया मे सार्थक रूप से विद्यमान थे। व्यापक न होने पर भी इस सूची ने प्रगति और लक्ष्योन्मुख परिवर्तन की दिशा, दर और गुणवत्ता को महत्त्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया। ये विशेषताएँ अपने को आधुनिक बनानेवाले समाज से कुछ अभियोजनात्मक अपेक्षाएँ रखती हैं और परिणाम मुख्यत इन अपेक्षाओ के प्रति समाज की प्रतिक्रिया

पर निर्भर होता है।

इस धनात्मक पहलू के बावजूद आधुनिकीकरण की रूपरेखा सैद्धान्तिक अस्पष्टता और अनुपयुक्तता से रहित नही थी। विवेक जो आधुनिकीकरण के प्रारूप का केन्द्र है अपनी व्याख्या मे अस्पष्ट था। अब यह अनुभव किया जा रहा है कि तार्किकता विभिन्न सन्दर्भो मे और विविध स्तरो पर अनेक प्रकार की हो सकती है। आधुनिकीकरण के प्रारूप की व्याख्या की शक्ति सीमित थी और कार्य के लिए दिशा निर्देश बडी हद तक प्रच्छन्न थे। जनता की गरीबी जैसे ज्वलत प्रश्न से यह नही टकाराया विशेषत अल्पविकसित देशो मे। तीन प्रमुख प्रश्न भी अनुत्तरित रहे–किसका आधुनिकीकरण ? और किसलिए आधुनिकीकरण ? कैसा आधुनिकीकरण ? आधुनिकीकरण की अवधारणा मानवता के सामने उपस्थित समस्याओ म गुणात्मक परिवर्तन को भली भांति ग्रहण नही कर सकी न ही आज की दुनिया के शोषणात्मक और दमनात्मक पहलुओ पर गहराई से सोचा गया। क्रान्ति के विकल्प की सम्भावना को नकार दिया गया। इस तरह आधुनिकीकरण का व्यापक सन्दर्भ अछूता ही रहा। आधुनिकीकरण की वाछनीयता और सम्भावना का प्रश्न पूछा ही नही गया। इस स्थिति ने सार्थक विकल्पो की खाज और सही समाधान पर विचार और कार्य मे बाधा डाली है।

**अस्पष्टताएँ और अनुपयुक्तताएँ** आधुनिकीकरण की विशेषताओ और सकेतको की विभिन्न श्रेणियॉ एक धनात्मक और सामान्यत स्वीकृत योगदान है आधुनिकीकरण के विभिन्न स्तरो और मात्राओ के साथ इनका सम्बन्ध सन्तोषजनक रूप से स्थापित हो चुका है। इस सन्दर्भ मे हमे परिणाम को कारण समझ लेने की गलतफहमी मे नही पडना चाहिए। यह तर्क भी दिया जा सकता है कि व्यक्तित्व की विशेषताएँ मूल्य सामाजिक गुण और दृष्टिकोण जो आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को बनाये रख रहे थे, सामाजिक-आर्थिक कारणो के परिणाम थे और जिन्हाने आरम्भिक उत्तेजना प्रदान की थी। विशेषताएँ और प्रक्रियाएँ दोनो ही एक दूसरे को प्रभावित करती हैं और समर्थन देती हैं। यह प्रक्रिया वाछित अभिवृत्तियो को उत्पन्न करने म महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। विद्वानो ने आधुनिकीकरण आर नगरीकरण, साक्षरता की दर और सचार साधनो से सम्पर्क के बीच धनात्मक सहसम्बन्ध पाया है।

आधुनिकीकरण के मानवीय आयाम के बारे मे काफी अस्पष्टता है। इसकी छत के नीचे किन्ह लाना है ? आधुनिकता की ओर उन्मुख समाजो मे जनसख्या के सभी हिस्सो को लाभ पहुँचाना इसका लक्ष्य हो सकता है, पर ऐसा कहीं भी प्रत्यक्ष रूप से नही कहा गया है। दुर्बल और हीन वर्गो की विशेष आवश्यकताओ को आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के सन्दर्भ मे स्पष्टत व्यक्त नही किया गया है। इसी तरह आधुनिकता का लक्ष्य वितरण की दृष्टि से भी स्पष्ट नही किया गया

और न ही इसे जीवन की गुणवत्ता के व्यापक प्रश्न के साथ ही जोडा गया। समानता और सामाजिक न्याय का इस विवेचन मे विशेष महत्त्व नहीं है। पश्चिमी विकासात्मक सिद्धान्त की तरह आधुनिकता की अवधारणा भी कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नो को स्वर देने मे विफल है। विकास सिद्धान्त मे यह माना गया कि उच्च सकल राष्ट्रीय उत्पाद से राष्ट्रीय आय बढेगी और पूरा देश समृद्ध होगा, आधुनिकता भी ऐसी ही गलत धारणा बनाती है और अपने कार्यक्रमो को अस्पष्ट 'समाज' की ओर उन्मुख करती है न कि उसके विशिष्ट भागो की ओर, विशेषत' जरूरतमन्द तबको की दिशा मे। यह नहीं महसूस किया गया कि कुछ दशाओ के अन्तर्गत बाजार का जादू काम नहीं करता। ऊपर से नीचे तक आनेवाला प्रभाव कमजोर होता है और अदृश्य हाथ प्राय' गरीब और कमजोर वर्गो को भूल जाता है।

आधुनिकता जटिल सगठनो द्वारा विज्ञान और तकनीक के निरन्तर बढते हुए उपयोग पर बल देती है। समाज के समृद्ध वर्ग की दोनो तक पहुँच आसान है और वे सगठनो को इस तरह सचालित करने मे सक्षम है कि अधिकाश लाभ उन तक पहुँचे। गरीब निरन्तर उपेक्षा सहने के लिए होते हैं। यह सम्भव है और अनेक दशाओ मे पाया भी गया है कि सामान्य वृद्धि के बीच गरीब के रहन सहन का स्तर घटता है।

आधुनिकीकरण की अवधारणा मे सामाजिक सकेतको का स्थान नहीं है और सामाजिक लक्ष्य न तो विनिर्दिष्ट हैं और न मात्रात्मक रूप ही ले सकते हैं। यह आयाम धुँधला है, हालाँकि आधुनिकीकरण के सकेतको की सूची से कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। आधुनिकीकरण के लक्ष्य सामाजिक न्याय से बहुत सरोकार नहीं रखते। इसमे सबसे बडी कमी एक ऐसी व्यापक दृष्टि की है जा जीवन की गुणवत्ता को समृद्ध कर सकनेवाली ऐसी कल्पनाशील योजना बना सके, जिससे न्यूनतम आवश्यकता की पूर्ति से लेकर उच्च सृजनात्मकता तक को बढावा मिल सके। पश्चिमी शैली के विकास से अधिक इसमे कुछ भी नही दिखता। पश्चिमी ढग के आधुनिकीकरण की व्यापक उपलब्धियो की अवमानना नही की जानी चाहिए, पर साथ ही इसकी अतिरिक्त त्रासदी और सही अर्थों मे व्यापक विकास के लिए इसके खतरे को भी नजरअदाज नहीं किया जा सकता। एक विकल्प के रूप मे तीसरी दुनिया व्यक्तिगत उपभोग को कम महत्त्व देकर अच्छी सामुदायिक सेवा की व्यवस्था पर ध्यान केन्द्रित कर सकती है।

जैसा कि कहा जा चुका है, आधुनिकीकरण के विचार की व्याख्यात्मक क्षमता सीमित है और यह पश्चिम की विकास प्रक्रिया के कुछ गन्दे पक्षो को छोड देता है। ऐसा कहा जा सकता है कि पश्चिम अपने को इसलिए आधुनिक बना सका कि उसके नागरिको मे सभी वाछित व्यक्तित्व गुण और मूल्य दृष्टियाँ उपस्थित

थी। उपनिवेशो पर आधिपत्य सस्ते कच्चेमाल और श्रम का मिलना तथा आधीन बाजार की उपलब्धता पश्चिम के तीव्र उद्योगीकरण मे सहायक हुए। उपनिवेशो और निर्भर देशो के साथ गैरबराबरी के सम्बन्ध पश्चिम के आर्थिक विकास के लिए महत्त्वपूर्ण थे। यह तथ्य आधुनिकीकरण के विचारको द्वारा स्वीकृत नही है। अल्पविकसित देशो के ह्रास की व्याख्या आधुनिकीकरण के मार्ग मे बाधा डालनेवाली परम्पराओ के आधार पर की जाती है। यहाँ भी उपनिवेशवाद के शोषक और अवरोधी प्रभाव को नजरअदाज कर दिया जाता है। विभिन्न प्रकार के नव उपनिवशवादो की ओर भी कोई ध्यान नहीं दिया जाता। परम्परा के अधिक धनात्मक पक्षा का सन्तुलित मूल्याकन और आधुनिकीकरण को प्रोत्साहित करने की उनकी सम्भावना की जाँच भी नही की जाती है। इस अवधारणा से कार्रवाई के लिए मिलनेवाले सुझाव अस्पष्ट और दिग्भ्रमित करनेवाले हैं। सरचनात्मक परिवर्तन का उल्लेख तो था पर न तो इसकी दिशा तय थी और न इसके सम्भव उपाय ही बताये गये। इन देशो मे आधुनिक हो रहे अभिजात वर्ग के स्वरूप की अपर्याप्त समझ होने के कारण उन्हे कुछ ऐसी भूमिकाए दी गयी जो अन्तत उनके लाभ के विरुद्ध चली जाती हैं। परम्परा का समाप्त करना न सम्भव है और न जरूरी ही। यह अल्पविकसित देशा मे इसलिए नही जीवित है कि वे लोग सामाजिक और सास्कृतिक पुरातनता से प्रेम करते हैं बल्कि इसलिए कि इसके विभिन्न अवयव विभिन्न प्रकार्यो के लिए उपयोगी हैं जो प्रथाआ से लेकर सस्थाओ तक इनकी निरन्तरता को वाछित और आवश्यक भी बना देते हैं। जब तक आधुनिकीकरण की आवश्यकताओ के अनुरूप कोई प्रकार्यात्मक ढाचा उसका स्थान लेने के लिए तैयार न हो परम्परा की समाप्ति एक शून्य को ज"म देगी। आर्थिक आधार और सम्बन्धित सामाजिक परिवेश जो परम्परा को जीवित रखते हैं म बदलाव पहले आना चाहिए। यह प्रक्रिया उल्टी दिशा मे नही होगी। शिक्षा और सचार विचारा मे सीमित बदलाव ला सकते हैं पर एसा नही लगता कि अपेक्षित प्रमुख सरचनात्मक बदलाव इनके द्वारा आ सकेगा। वास्तविक और कठोर पर सम्भव विकल्प नही सुझाए गये हैं। अनुभव बताता है कि मात्र लक्षणो पर ध्यान देने से वाछित सरचनात्मक परिवर्तन नही आ पाते।

आधुनिकीकरण का ढाँचा जिस तरह से हमारे सामने प्रस्तुत किया गया उससे पैदा हो सकनेवाली समस्याओ के समाधान मे वह असफल रहा। आधुनिकीकरण विज्ञान एव तकनीक के ऊपर अत्यधिक निर्भर है। यह विश्वास था कि अधिकाश मानव समस्याएँ विज्ञान और तकनीक की मात्रा को बढा देने से सुलझाई जा सकती हैं और अनथक रूप से उनको अधिकाधिक सस्कारित करने से इन समस्याओ का समाधान हो सकता है। ऐसी सोच के कुछ परिणाम उत्पादनविरोधी होने ही थे। अति उच्च तकनीक के लिए अत्यधिक पूँजी चाहिए।

यह ज्यो ज्यो जटिल होता है उसके लिए कम सख्या मे परन्तु अत्यन्त कुशल कामगार चाहिए। अल्पविकसित देशो मे पूँजी सीमित है और उस पर अधिकार जमाने के लिए प्रतिद्वन्द्विता करनेवालो की सख्या अधिक है। लकिन अत्यधिक कुशलतावालो की सख्या बहुत कम है। इन देशो मे रोजगार के अधिक से अधिक अवसर पैदा करना एक प्रमुख समस्या है। साथ ही निपुणता और मितव्ययिता की आवश्यकताएँ कम से कम कुछ क्षेत्रो मे उच्च तकनीक के उपयाग को अनिवार्य बना देती हैं। विकास के लिए सहायता के साथ कुछ पुछल्ले भी लगे होते हैं जैसा कि हम आगे देखेगे। विकसित देश अपनी उँगलियों पर विकासशील देशो को इस तरह नचाते हैं कि अल्पविकसित देशो मे तकनीक विकसित देशो की शक्तिशाली तकनीक का उपग्रह बन जाती है। यह प्रवृत्ति राष्ट्रीय असमानताओ को बढाती और दृढ करती है। जब ऊँची लागतवाली जटिल तकनीक कुछ क्षेत्रो मे लाई जाती है तो उससे असन्तुलित विकास होता है। इसके अतिरिक्त अधिकाश विकासशील देश बढती हुई बेरोजगारी की समस्या से ग्रस्त हैं। आरम्भिक अवस्था मे उच्चतर तकनीक को अपनाना इसे बढा सकता है। इन अन्तर्विरोधो को दूर करना होगा और तकनीकी विकल्पो को बडी सावधानी से चुनना होगा। कम लागतवाले और अधिक रोजगार के अवसरवाली तकनीक इसका एक समाधान प्रस्तुत करती है। इन देशो की जरूरतो को पूरा करनेवाली उपयुक्त तकनीक को भी क्रमश विकसित करना होगा। यह आवश्यक तो है पर पर्याप्त नहीं। कई महत्त्वपूर्ण क्षेत्रा जैसे सुरक्षा मे नवीनतम तकनीक को अपनाने के लिए आन्तरिक दबाव और बाहरी प्रोत्साहन बना रहता है। कई दशाओ मे यह एक खर्चीली भ्रान्ति ही साबित होती है। पहले के उपनिवेशो के स्वतन्त्रता सग्राम इस तरह की तकनीक से नहीं जीते गये थे। वियतनाम ने आधुनिक तकनीक का सामना किया और उसे अपने दृढ निश्चय ओर अनुकूलनपरक गुरिल्ला दाँवो से विफल किया। एक बडी तकनीकी खाई विकसित और अल्पविकसित देशो के बीच बनी हुई है। उससे पैदा होनेवाली समस्याओ तथा व्यापक असन्तुलन के परिणामो पर हमे सोचना होगा। अल्पविकसित देशो को उन दबावो के आगे नही झुकना चाहिए जो उन्हे निम्न तकनीकी के दर्जे पर स्थायी रूप से बनाये रखे।

आधुनिकीकरण की दिशा ऐसी तकनीको से बँधी है जिसमे ऊर्जा के अधिकाशत अपुनर्प्राप्य स्रोतो स पैदा होनेवाली ऊर्जा की अधिक खपत होती है। सम्प्रति ऊर्जा की त्रासदी के कारण विकसित समाज का एक तिहाई भाग आशकित है और दो तिहाई अल्पविकसित क्षेत्र की विकास योजनाएँ अस्तव्यस्त हो रही हैं। आधुनिक विज्ञान निस्सन्देह वैकल्पिक ऊर्जा स्रोतो को विकसित करने की क्षमता रखता है पर इसके लिए प्रचुर मात्रा मे शोध और विकास मे पूँजी लगानी होगी। परिणामो के व्यापक और प्रभावी प्रसार मे समय लगता है और एक सीमा के

बाद उसमे तीव्रता नही लाई जा सकती। अनुकूलन की लागत भी अधिक होगी। ये मीमाएँ अल्पविकसित देशा के लिए हास का कारण होगी।

जीवाश्म ईधनो और बिजली जैस स्रोतो से मिलनेवाली ऊर्जा और आधुनिकीकरण के बीच सम्बन्ध को बढा चढाकर प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रति व्यक्ति ऊर्जा की खपत और एक देश का जीवनस्तर जटिल ढग से परस्पर सम्बन्धित हैं, परन्तु ऊर्जा की अधिक उपलब्धता ओर उपयोग आवश्यक रूप से जीवनस्तर को ऊँचा नही उठाते और जनसख्या क बडे भागो क जीवन की गुणवत्ता मे सुधार नहीं लाते। ऊर्जा के उत्पादन और उपयाग के आँकडे बहुत ही भ्रामक हो सकते हैं इसलिए उनके पीछे निहित सच्चाई को गम्भीरता स जॉचना होगा।

इस प्रसग मे हम आधुनिकीकरण के एक दूसरे तरह के परिणामा पर भी ध्यान देना हागा। अपनी सफलता के लिए यह प्रक्रिया तकनीक उपयुक्त आधार सरचना का समर्थन आर कुशल प्रबन्धन के सयोजन की अपेक्षा करती है। इनके अभाव मे ऊर्जा के स्रोता को अच्छी तरह सयोजित नही किया जा सकता आर लक्ष्यो की पूर्ति के लिए जटिल सगठना को प्रभावी ढग से सचालित नही किया जा सकता। दोनो ही सम्बन्धो के अवैयक्तीकरण का जन्म देते हैं। यह लाभ है या हानि ? लाभ तो बहुत ही स्पष्ट है पर अदृश्य हानिया भी विचारणीय हैं। व्यक्ति की स्वायत्तता पर बल स्वतन्त्रता का एक नया मापक सामूहिक बन्धन को कमजोर करता है। यह प्रवृत्ति अलगाव और मूल्यहीनता का जन्म देती है। इन पक्षो से सगीन सामाजिक परिणाम जुडे हैं। युक्ति का नया अर्थ–सामाजिक मानको और धर्म के बन्धनो से स्वतन्त्रता–परिस्थिति को ओर भी जटिल बना देता है। विश्वास से चुनाव की दिशा मे बदलाव स्पष्टत परिलक्षित है परन्तु वरीयताएँ विवेकपूर्ण से लेकर बेतुके के बीच हो सकती हैं। इन चुनावो के क्रम मे परम्परा चुपके से घुसपैठ करती हुई देखी जा सकती है। इस चुनाव की प्रक्रिया मे बहुत सी विचित्रताए हो सकती हैं जिनका कोई उद्देश्य और नवीनता के अतिरिक्त कोई महत्त्व नही होता। शिथिल अनुशासन की परिस्थितियो मे नयी युक्तियाँ अपनी पसन्द की स्वतन्त्रता के दुरुपयोग को ही अधिक बढाती हैं। सोद्देश्य सामाजिक दिशा निर्देश अनुपस्थित हैं। सास्कृतिक परम्परा और धर्म के द्वारा जो दिशाएँ पहले मिलती थी, वे अशक्त हो गयी हैं और अन्य मान्यताएँ बढती हुई निर्बन्धता से क्षीण हा गयी हैं। समाज को नए प्रयोग कर कई पाठ सीखने होगे।

यहा यह भी जोडा जा सकता है कि आधुनिकता के अधिकाश लाभ और समृद्धियाँ 'पोस्ट डेटेड (बाद की तिथिवाले) बैंक चेक की तरह हैं जिन्हे अभी न भुनाकर भविष्य म किसी अनिश्चित तिथि पर भुनाया जा सकता है। किसी भी स्थिति मे यह आम जनता के लिए था परन्तु इसके प्राप्त होने की कोई निश्चित

तिथि नहीं थी। यह स्थिति आधुनिकीकरण की इच्छा को दुर्बल बनाती है, लोगो को कठिन परिश्रम करने के लिए और तत्काल भोग न करने के लिए आसानी से तैयार किया जा सकता है, यदि पुरस्कार या कम से कम उसका एक हिस्सा निकट भविष्य मे उनके जीवन काल मे उपलब्ध हो और बाद के किसी ऐसे अस्पष्ट काल से न जुडा हो जिसके साथ वे अपना सीधा सम्बन्ध स्थापित न कर पाते हो। भूखे और शोषित लोगो का धैर्य सीमित होता है और उनके लिए वर्तमान ऐसे सुदूर भविष्य, जिसके वह हिस्से नहीं होगे, की अपेक्षा अत्यधिक महत्त्व रखता है।

आधुनिकीकरण की विचारधारा भौतिक उपलब्धि पर बल देती है, जिसमे मनोवैज्ञानिक पुरस्कारो का ठीक ढग से उल्लेख नही किया गया है। जीवन की आधारभूत भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति निश्चित ही आवश्यक है, पर इससे आगे जाकर मनुष्य आध्यात्मिक सुख और सृजनात्मक कार्य-कलापो के लिए भी अवसर खोजता है। सफलता को जीवन के सुखो के अतिरेक के तुल्य मानना कई विकसित देशो मे नवधनाढ्यो की मूल्य-व्यवस्था को अभिव्यक्त करता है, बाद की पीढियो के मूल्याकन इससे भिन्न भी हो सकते हैं। यह भी सम्भव है कि ये पीढ़ियाँ अपने पूर्वजो द्वारा बडे परिश्रम से प्राप्त जीवनस्तर के अधिकाश प्रतीको को आडम्बर-प्रदर्शन, यहाँ तक कि गँवारू और अशिष्ट, मान सकते हैं। दूसरी ओर उपयुक्त मानसिक पुरस्कार लोगो को सदैव प्रेरित करते हैं पर उन्हे बडी सूझबूझ के साथ बनाना होगा और उनमे स्वीकृत अर्थो और मान्यताओ को निविष्ट करना होगा। लोगो की दूसरो को महत्त्व देने की प्रवृत्ति को उत्पादक और सृजनात्मक कार्यो मे लगाया जा सकता है, जिससे अनेक लोगो का कल्याण होगा न कि थोडे से लोगो के स्वार्थ की सिद्धि।

आधुनिकीकरण के विचार मे एक और भ्रान्ति निहित है। आधुनिक होता हुआ अभिजात वर्ग और आधुनिकीकरण का आरम्भ मे लाभ पानेवाले लोग समग्र समाज मे इसके लाभो को फैलने का अवसर नहीं देते। पश्चिम का उदाहरण कई अल्पविकसित देशो के लिए सही नही साबित होता। पश्चिम के विकसित देशो के ऐतिहासिक अनुभव के अनुसार नगरो का दबाव अनगरीय जनसख्या के जीवनस्तर को उठाने मे कारण था। अल्पविकसित देशो का अनुभव इसके विपरीत है और एक विभिन्न प्रवृत्ति दिखाता है। सुविधाभोगी शहरी क्षेत्र, जिसमे कामगार सगठन भी सम्मिलित हैं, ग्रामीण क्षेत्र को बराबरी दिलानेवाले सभी उपायो के प्रति आक्रामक उदासीनता दिखलाता है। इस उदाहरण मे इतिहास अपने को नहीं दुहरा रहा है। पश्चिमी सूझ तीसरी दुनिया मे आधुनिकीकरण के कार्यक्रमो पर बिना विचारे लागू नहीं की जा सकती।

**पर्यावरणीय सीमाएँ :** अनवरुद्ध और असीमित आधुनिकीकरण की अवधारणाओ

का कई कोणो से विशेषत पर्यावरणविदो और सरक्षाविदो द्वारा चुनौती दी गयी है। उनके द्वारा बड ही जोरदार ढग से और तथ्या पर आधारित विचार हमे ध्यान देने के लिए बाध्य करते हैं। उनमे से कुछ अतिवादी रुख अपनाये हुए हैं और अन्ततोगत्वा मचेतक सावित हो सकते हैं लेकिन उनके द्वारा जिस सावधानी की बात की जा रही है उसे टाला नही जा सकता। इस नयी विचारधारा के सन्तुलित प्रवर्तक आधुनिकीकरण की दिशा और वाछनीयता के वारे म अनेक भ्रान्तियो की चर्चा करते हैं। इस सन्दर्भ म यह उल्लेखनीय है कि आधुनिकीकरण पर चर्चा मे सास्कृतिक परम्परा ओर सामाजिक सरचना मे परिवर्तन की आवश्यकता की बात तो हुई है परन्तु विज्ञान और तकनीक की दिशा और वाछनीयता पर बहुत ही कम ध्यान दिया गया है।

पर्यावरणविदो का ऐसा मत प्रतीत होता है कि असीमित आधुनिकीकरण शुद्ध वरदान न होकर मानवजाति के लिए सकट भी हो सकता है। इस परिस्थिति से तभी रक्षा हो सकती है जब एक नयी दिशा तत्काल स्वीकार कर ली जाये।

अपुन प्राप्य नैसर्गिक ससाधन जिन पर आधुनिकीकरण की अवधारणा टिकी हुई है बडी तेजी से नष्ट हो रहे है तथा उचित सक्षम और कम खर्चीले विकल्प अभी तक खोजे नही गए हैं। इस विचारधारा के आलोचका की चेतावनी से प्रोत्साहित और समर्थित विकल्पो की खाज जारी है। अधिकाश शोध विशेषत ऊर्जा के क्षेत्र मे प्रायोगिक अवस्था मे हैं और अभी बहुत काम बाकी है जिसके बाद ही परम्परागत ऊर्जा साधनो के उपयुक्त प्रकार्यात्मक विकल्प मिल सकेगे। कुछ मुख्य साधनो की समाप्ति और उनके उचित विकल्पो द्वारा पूर्ति के बीच की अवधि आर्थिक और सामाजिक उतार चढाव की भयानक सम्भावनाएँ रखती हैं। ससाधना की समाप्ति अभी हुई नही है पर आज के विश्व को इसका आभास होने लगा है।

पर्यावरण प्रदूषण और पारिस्थितिक असन्तुलन के परिणाम ओर भी घातक हो सकते हैं। आधुनिक बडे उद्योगो से निकलनेवाला धुआँ और गन्ध बिना सोचे समझे बडी मात्रा मे प्रयुक्त रासायनिक उर्वरक कीटनाशक और विवेकहीन नैसर्गिक ससाधना का दाहन तथा पेट पोधो और पशुओ पर उनका प्रभाव और सबसे ऊपर आधुनिक युद्धो द्वारा दृश्य और अदृश्य सहार पर्यावरण के साथ बडा ही भयानक खेल खेल रहे हैं। धरती की सतह भूमि और जल तथा जलवायु गम्भीर रूप से प्रदूषित हो रहे हैं। विश्व के कुछ हिस्सो मे तो प्रदूषण उस खतरनाक स्तर तक पहुँच गया है जो सभी जीवित प्राणियो के जीवन के लिए खतरा बन चुका है। यह परिस्थिति अविवेकपूर्ण आधुनिकीकरण की परिणति है।

विकास की सीमाआवाला तर्क चेतावनी की अनुपयुक्त अतिप्रतिक्रिया है। चेतावनियाँ अपनी जगह सही हैं परन्तु मानव इतना मूर्ख नही है कि वह उनसे

सबक न ले और विकास के मार्ग को विनाश का मार्ग बना ले। **लियोन्टिफ की फ्यूचर ऑफ द वर्ल्ड इकॉनमी** (1977) नामक पुस्तक सन् 2000 का अपेक्षाकृत आशाजनक चित्र खीचती है। परिस्थिति आशाविहीन नहीं है, सुधार के रास्ते निश्चय ही खोजे जा सकते हैं, पर साथ ही पर्यावरणविदो की चेतावनियाँ अनसुनी नही की जा सकती।

विश्व को विकास के वर्तमान स्तर पर रोक देना एक उतावलेपन का समाधान होगा। यह ठीक नहीं होगा और ऐसा होगा भी नही। यह उचित इसलिए नही है, क्योकि जो अविकसित हैं उन्हे ससाधनो की सुरक्षा तथा पारिस्थितिक असन्तुलन और जलवायु के प्रदूषण को रोकने के नाम पर अपना पिछडापन बनाये रखना होगा, दूसरी ओर समृद्ध देश उपभोग का वर्तमान स्तर बनाये रखेगे और नैसर्गिक ससाधनो का दोहन और पर्यावरण का प्रदूषण वर्तमान स्तर पर या शायद इससे थोडी कम दर पर करते रहेगे। फलत निश्चय ही एक उचित कारण से दो तिहाई मानवता स्तत गरीबी मे रहेगी। ऐसे प्रस्ताव मे अतर्निहित अन्याय के विरुद्ध गरीब देश क्रान्ति करेगे। वृद्धि की शून्य दर का तर्क भी अस्वीकार्य है।

फिर क्या होगा ? सम्भवत आधुनिकीकरण को पुनर्परिभाषित करना अपेक्षित है। पर्यावरण की आवश्यकताओ के अनुरूप विज्ञान और तक्नीक को नयी दिशा देनी होगी और एक नये रास्ते का निर्माण करना होगा। तकनीक सर्वशक्तिमान नही रह सकती और न ही अपने वर्तमान स्वामियो के हितो का साधन ही करती रहेगी। उसे सामाजिक आवश्यकता के अनुरूप ढालना होगा और उसकी गति और दिशा को समाज मे प्रगति के लक्षण और दर के साथ नियमित करना होगा। नियन्त्रित आधुनिकीकरण, जो वितरण के न्याय से युक्त हो ही उत्तर दे सकता है। बहुतो का स्तर उठाने के लिए थोडे से सुविधाभोगी लोगो के स्तर को नीचे गिराना जरूरी हो सकता है। जब तक ऐसा नहीं होता है, मानवता का भविष्य ह्रास से बचाया नहीं जा सकता। आधुनिकीकरण का न झुकनेवाला दृष्टिकोण अन्तत विघटन और मानवता एव सभ्यता के विनाश का कारण होगा।

व्यापक सन्दर्भ : यदि पर्यावरणीय सीमाएँ आधुनिकीकरण की सम्भावना को सीमित करती हैं, यहाँ तक कि वाछनीयता पर भी प्रश्नचिह्न लगाती हैं तो आधुनिकीकरण का व्यापक सन्दर्भ और भी चिन्ताजनक सम्भावनावाला दिखता है।

वर्तमान विश्व व्यवस्था गैरबराबरी की है। यह तथ्य आधुनिकीकरण के भविष्य के लिए महत्त्वपूर्ण अर्थ रखता है। विश्व मे उपलब्ध ससाधनो का वितरण असमान है। यहाँ विभिन्न देशो के बीच प्राप्त असमान नैसर्गिक साधनो की बात नहीं की जा रही, बल्कि ज्ञात ससाधनो तक असमान पहुँच और उन पर नियन्त्रण

की चर्चा की जा रही है। इसका एक बड़ा ही स्पष्ट उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका है जहाँ विश्व जनसंख्या का 6% भाग रहता है पर जो विश्व के संसाधनों के 35% भाग का उपभोग करता है। अन्य विकसित देश भी इसी तरह उपलब्ध संसाधनों का जनसंख्या के अनुसार अनुचित अनुपात में उपभोग करते हैं। इसे यों भी कहा जा सकता है कि 1/3 विकसित भाग विश्व के संसाधनों के लगभग 2/3 भाग का उपभोग करता है विश्व के दो तिहाई अल्पविकसित भाग के उपभोग और विकास के लिए एक तिहाई हिस्सा ही बचता है। इस तरह की असमानता विकासशील देशों के आधुनिकीकरण के मार्ग में अवरोध होती है।

विसंगतियाँ केवल आर्थिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं हैं। विकसित देशों की उच्च सैन्यशक्ति उनके राजनीतिक महत्त्व को बढ़ाती है। विकास की सहायता के सम्बन्ध में उनकी भूमिका निर्णायक हो जाती है। इस तरह विकास का व्यापक दृश्य संरक्षक-आसामी सम्बन्ध को रूपायित करता है। अल्पविकसित देश अपने विकसित देशों के संरक्षक के साथ निर्भरता का सम्बन्ध रखते हैं। सहायता लगभग सदैव सशर्त होती है यद्यपि उसके सूत्र प्रायः अदृश्य होते हैं और कठिन शर्तें प्रायः अस्पष्ट रूप में ही रहती हैं। व्यापार की शर्तें भी समृद्ध और शक्तिशाली के पक्ष में रहती हैं। संरक्षक का सम्बन्ध अल्पविकसित देशों के लिए दुहरा संकट पैदा करता है। उनका अर्थतन्त्र केवल उपग्रह-अर्थतन्त्र रह जाता है और प्रभावशाली अर्थतन्त्र का पूरक मात्र रहता है। उनका विकास निरन्तर संरक्षित प्रतिबंधित रहता है और वे शायद ही आत्मनिर्भरता की आशा कर पाते हैं। जब तक अल्पविकसित देश अपने नव-औपनिवेशिक सम्बन्धों को तोड़ने की दृढ़ इच्छा नहीं रखते और समृद्ध और शक्तिशाली अल्पविकसित देशों की प्रतिक्रियावादी विचारधारा का चकित सहनशीलता की दृष्टि से देखते हैं 77 के समूह या गुटनिरपेक्ष देशों के साथ यदा-कदा उनका विचार विनिमय अर्थहीन होता है। निर्बल केवल भौंक सकता है काट नहीं सकता। उनके प्रच्छन्न बिखराव का सदैव दोहन किया जा सकता है।

अधिपति और अधीन के रिश्ते जिनके सन्दर्भ में अल्पविकसित देशों का आधुनिकीकरण प्रायः होता है का आधुनिकीकरण के आयोजन के लिए ऋणात्मक परिणाम होता है। विज्ञान और तकनीक का ही उदाहरण लें। जब विकसित देश अपनी तकनीक रुपया लेकर या विकास की सहायता के रूप में दूसरे देश को देते हैं तो अपनी ग्न्प्रयोग तकनीक जो अपनी उपयोगिता खो चुकी है का निर्यात करते हैं। पर्यावरण प्रदूषणवाली तकनीक भी तीसरी दुनिया को लिए दी जा सकती है। अल्पविकसित देश ऐसी योजनाओं पर काम करने के लिए प्रोत्साहित किए जाते हैं जो संरक्षक देश के उद्योगों के लिए माल तैयार करें। इस तरह के कार्यक्रम के समर्थन के लिए विकसित देश आवश्यक तकनीक आसानी से दे देते हैं। इसमें

दोनो तरह की तकनीक—अपशोषक तथा श्रम की अधिक अपेक्षावाली तकनीक—सम्मिलित होती है पहली, कच्ची और अशत ससाधित सामग्री सरक्षक देश के उद्योग के लिए पैदा करने के लिए, तथा दूसरी सरक्षक देश के अपने श्रम की ऊँची लागत को घटाने के लिए। आयातित तकनीक प्राय उच्चस्तर पर ऊर्जा की अधिक मात्रा की खपत करती है। तीसरी दुनिया के वैज्ञानिक जब विकसित देशो मे प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं तो वे अधिकाशत उन्हीं देशो से निकट से जुडे हुए क्षेत्रो मे ही प्रशिक्षित होते हैं। घर वापस लौटकर वे उसी तरह का कार्य करते हैं जो राष्ट्रीय आवश्यकताओ के लिए निश्चित रूप से अप्रासगिक होते हैं। यह उलझनवाली बात लग सकती है पर है निश्चित रूप से सही कि तीसरी दुनिया के वैज्ञानिको ने अपने शोध द्वारा विकसित देशो के लिए अधिक योगदान किया है। *अपेक्षाकृत अल्पविकसित देश के विकास के लिए सम्मानित विदेशी विद्यापीठो* मे जो विषय प्रचलित होते हैं, वे तीसरी दुनिया के विश्वविद्यालयो और शोध-सस्थाओ मे भी आदरणीय हो जाते हैं। यह प्रवृत्ति निकट भविष्य मे बदलनेवाली नहीं है। विज्ञान और तकनीक, जो आधुनिकीकरण के लिए निरन्तर उद्दीपक होते हैं और उसे आधार देते हैं, समृद्ध देशो के ही पक्ष मे है। साम्प्रतिक विश्व सन्दर्भ मे वे यह कार्य अवश्य सम्पादित करते हैं, परन्तु वह अल्पविकसित देशो के लाभ के लिए उतना नहीं होता जितना अधिक विकसित देशो के लिए।

विकसित देशो की तकनीक अन्तत अल्पविकसित देशो की तुलना मे उन्हे अधिक लाभ की स्थिति मे रखती है। उनके पास निगरानी रखनेवाले उपकरण हैं, जो सवेदनशील स्रोतो से प्राप्त ज्ञान को आसानी से शक्ति मे बदल देते हैं। आज की परिस्थिति मे चाहे जिस ढग से देखा जाये, वह अधिक विकसित देशो के आधुनिकीकृत होने की क्षमता को सीमित कर देती है। यह अब स्पष्ट हो चला है कि तीसरी दुनिया के विकास और आधुनिकीकरण के लिए विश्वव्यवस्था के पुनर्गठन और आधारभूत बदलाव अनिवार्य शर्तें हैं। इस लक्ष्य की दिशा मे व्यापक वैचारिक विनिमय और सवाद वैकल्पिक और एक नया प्रारूप विकसित कर सकता है।

---

यह अध्याय उनके अकस्मात निधन से अधूरा ही रह गया है। इसका अत वे उत्तर आधुनिकता पर अपने विचारों से करना चाहते थे। पर अचानक ही उन्हें अस्पताल जाना पडा। वहाँ पर उन्होंने मुझसे डिक्टेशन लेने के लिए कहा भी पर दुर्भाग्य से वह हो न सका और वे चल बसे।

—लीला दुबे

# 4. विकास पर पुनर्विचार

आधुनिकीकरण और विकास के बीच अन्तर अधिकाधिक धुँधला पड़ता जा रहा है दोनो एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच गये हैं जहाँ दोनो शब्द एक दूसरे के स्थान पर और लगभग पर्यायवाची रूप मे प्रयुक्त किये जा सकते हैं। आधुनिकीकरण के बौद्धिक इतिहास की जड़ व्यवहार विज्ञानो में हैं परन्तु यह आधुनिकीकरण की प्रक्रिया मे आर्थिक कारक को महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के रूप में ग्रहण नही करता है। दूसरी ओर विकास ने मुख्य रूप से अर्थशास्त्र से जीवन पाया है हालाँकि इस विषय के विवेचन में संस्थागत और प्रेरणा के आयाम भी प्रत्यक्ष ओर परोक्ष रूप से चर्चित हुए हैं और चर्चित हो रहे हैं। इस विषय में होनेवाले नवीनतम शोधो के बारे में यह बात अधिक सही लगती है। दोनो में ही लाभो के प्रसार-वितरण के आयाम-ने इनके बीच की दूरी को और भी कम किया है। आज एक सामान्य जनसमुदाय के लिए दोनो ही अवधारणाएँ एक सी लगती हैं यदि उनके बीच कुछ अन्तर हैं तो वे मात्र शब्दार्थ की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। पिछले तीन दशको के कटु यथार्थ के अनुभव ने दोनो के ही उत्साही प्रवक्ताओ के स्वर को मन्द किया है। वे अपने पिछले दावो के स्थापित न होने पर लज्जित हैं। दोनो ही दृष्टियाँ अपनी कमियो और विश्लेषणो की सीमाओ से अवगत होकर विकल्पो की खोज की दिशा मे ध्यान दे रही हैं।

एक कट्टर वर्ग अभी भी शेष है जो रूढ़िवादी दृष्टि से स्थापित मान्यताओ से दुराग्रहपूर्वक जुड़ा हुआ है और अपने पक्ष में विभिन्न तर्को का सहारा लेता है। पर वह संवाद की मुख्यधारा का अंश नही रह गया है। वह स्वय ही इस बात के प्रति अत्यधिक सजग हो गया है कि वह अपनी जमीन खो चुका है। इसकी रानकीय और दर्प भरी यशगाथा का अवहेलनीकरण हो चुका है और तीसरी दुनिया में उसके प्रति कोई आस्था नहीं रह गयी है।

इस चर्चा में कुछ नयी रूप रेखाएं भी सम्मिलित हुई हैं जिनमें कुछ तीसरी

दुनिया के विद्वानो द्वारा दी गयी हैं। आधुनिकीकरण या विकास जैसी जटिल समस्या का निश्चित उत्तर पाना कठिन है। समस्या के समाधान के लिए यह एक शुभ लक्षण है कि बौद्धिक दृष्टि से हमारी खोज अधिक इतिहासकेन्द्रित हो गयी है और अधिक ठोस इद्रियानुभवी आधारो पर आश्रित है। वह उन कई नाजुक और सवेदनशील मुद्दो पर साहस के साथ खुलकर सामने आने मे लज्जा का अनुभव नही करती है जिनके लिए पूरी चुप्पी साधे रखना या बडे मृदु और अप्रत्यक्ष रूप से बात करना ही अब तक सम्भव था। एक दूसरी स्वस्थ प्रवृत्ति है सेद्धातिक सार्वभौमिकताओ से अलग हटकर सास्कृतिक और राष्ट्रीय या क्षेत्रीय विशिष्टताओ की ओर झुकाव। तीसरी दुनिया के अध्येता प्राकृतिक सीमाओ और प्रतिक्रियावादी चरण की अतिवादिता के आगे बढ चुके हैं जो अब सवाद की पहली पक्ति मे हैं और उनकी आवाज को ध्यानपूर्वक सुना जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता और सामा य राजनीतिक पागलपन के माहौल के बावजूद इस बात के अच्छे प्रमाण हैं कि कम से कम कुछ हिस्सो मे मानवता के अस्तित्व के लिए चि ता वैकल्पिक भविष्य की खोज एक दूसरे तरह के विकास पर विचार और बराबरी पर आधारित एक नयी विश्व व्यवस्था के लिए आकुलता सही अर्थों मे हमारी विचार प्रक्रिया से जुड गयी है। विकास और आधुनिकीकरण पर चर्चा मे अब ये कुछ नये आयाम महत्त्वपूर्ण माने जाने लगे हैं।

**आर्थिक व्याख्याएँ** विकास का क्लासिकी दृष्टिकोण जिस तरह अर्थशास्त्र म प्रस्तुत किया गया था वह अतिसरलतावादी नहीं तो सरल अवश्य है। विकासवादिता एक प्राचीन और शक्तिशाली पश्चिमी विचार होते हुए भी वैकासिक अर्थशास्त्र के प्रति प्रमुख पश्चिमी योगदान मार्क्सवादी के अपवाद को छोडकर अधिकाशत 1950 और उसके बाद ही हुए। आरम्भिक चिन्तन मे वृद्धि की अवधारणा स्वीकार की गयी और विरोध की धारणाओ को स्पष्ट करते समय ही विकास और वृद्धि के बीच की डोर काटी जा सकी। काफी दिनो तक विकास का तात्पर्य केवल एक स्थिर और म द अर्थव्यवस्था मे पाँच से सात प्रतिशत की दर से सकल राष्ट्रीय उत्पाद मे वार्षिक बढोतरी लाने और बनाये रखने की क्षमता थी। डब्ल्यू आर्थर लेविस जो क्लासिकी मॉडल के एक प्रसिद्ध प्रवक्ता थे जनसख्या के प्रति व्यक्ति उत्पाद की वृद्धि को ही महत्त्व देते थे न कि वितरण को। वह वितरण के बारे मे तभी चिन्तित होते थे जब वृद्धि से उत्प न धन पुन उत्पादक तक न पहुँच सके। वृद्धि का खेल आर्थिक चिन्तन को बहुत समय तक प्रभावित किये रहा जब तक कि इसकी सीमाएँ स्पष्टत परिलक्षित नही हो गयी। अभी भी यह एक पूरी तरह चुकी हुई शक्ति नही कही जा सकती।

यहाँ **कीनसियन माडल** का उल्लेख आवश्यक है इसलिए नहीं कि यह सही अर्थो मे एक मॉडल है या कि यह क्लासिक उदार उपागम से कोई अलग दृष्टि

प्रस्तुत करता है बल्कि इसलिए कि कीन्स का चिन्तन तीसरी दुनिया म विशेष रूप स प्रभावशाली था और इसन विकास के कई माडलो का बनाने के लिए प्ररणा दी। यह याद रखना चाहिए कि कीन्स ने उच्च पूजीवादी बाजार के अर्थतन्त्र म सम्पूर्ण आय ओर रोजगार के निर्धारण के विषय म काम किया था। 1930 के आरम्भिक दशक म प्रस्तुत उसका मॉडल विकास या अपविकास की व्याख्या के लिए नही था बल्कि वह आर्थिक मन्दी के और उस समय पश्चिम मे बेरोजगारी के कारणा के विश्लेषण के लिए था। उसके माडल क अनुसार बेराजगारी अपर्याप्त समग्र माग क कारण थी ओर वह समग्र माग को बढाने के सरकारी खर्च द्वारा ओर रोजगार पैदा करके समाप्त की जा सकती थी। कीन्स परिपक्व पूजीवाद की समस्याआ बाजार की अपरिपक्वता ओर अधिक उत्पादन तथा कम उपभाग की समस्या स जूझ रहा था। वह क्लासिकी उदार चिन्तन धारा से एक महत्वपूर्ण अर्थ म भिन्न था। वह आशा करता था कि राज्य कुछ विशिष्ट दशाआ म पूजीवादी व्यवस्था की स्थिरता को बनाये रखने ओर निरन्तर वृद्धि को निश्चित करने म हस्तक्षेप करेगा।

कीन्स क विचारो का परोक्ष रूप से काफी प्रभाव पडा और उसक गतिकीय सिद्धान्त का विस्तार विकास के बारे म सोच पर दीर्घकाल तक छाया रहा। प्रसिद्ध **हरोड डोमर मॉडल** कीन्स के अर्थशास्त्र को ही प्रस्तुत करता है। उक्त समीकरण जिसमे गृ व अ प्रकार्यात्मक आर्थिक सम्बन्ध को दिखाता है और जिसम सकल गृह उत्पाद की दर (गृ) राष्ट्रीय बचत के अनुपात (ब) पर सीधे सीधे निर्भर करती है तथा राष्ट्रीय पूजी/उत्पाद अनुपात (अ) से ऋणात्मक रूप मे जुडा है। यह वृद्धि की प्रक्रिया की एक प्रभावी व्याख्या थी।

**रोजन स्टीड राडन** द्वारा प्रस्तुत 'बडे धक्के' का सिद्धान्त जो आर्थिक विकास क मुख्य उपाय क रूप मे पूजी निवेश पर बल दता है भी कीन्स के विचारो द्वारा ही प्रेरित है। सक्षेप म इसके अनुसार अल्पविकसित देशा का आत्मनिर्भर आर्थिक विकास की स्थिति म पहुँचने की मुख्य शर्त ऐसा प्रचुर निवेश है जिसका उद्देश्य आर्थिक आधार सरचना का निर्माण ओर तीव्र उद्योगीकरण को आगे बढाना है। **हर्शमन** द्वारा प्रस्तुत असन्तुलित विकास का सम्प्रत्यय भी इसी तरह के सिद्धान्ता की कोटि म आता है। इन सब म आर्थिक विकास को आगे बढाने मे राज्य का धनात्मक भूमिका दी गयी है कम से कम महत्त्वपूर्ण सक्रमण की अवधि म।

प्राचीन उदार विचारधारा का एक बदला रूप जो अशत कीन्स के विचारो द्वारा प्रभावित है **वाल्ट डब्ल्यू रास्टोव** का आर्थिक वृद्धि के चरणा का सिद्धान्त (1961) है जा कभी बडा लाकप्रिय ओर प्रभावशाली था। एकरेखीय ओर विकासवादी दृष्टिकोणवाला यह सिद्धान्त चार स्पष्ट चरणो का प्रतिपादन करता है 1 प्रतिव्यक्ति सीमित आयवाला परम्परागत तथा अवरुद्ध चरण 2 सक्रमण

का चरण जिसमे विकास की पूर्वदशाएँ सुनिश्चित होती हैं 3 विकास के आरम्भ का चरण जिसमे आर्थिक वृद्धि की प्रक्रिया शुरू होती है और 4 औद्योगीकृत व्यापक उत्पादन और उपभोग का चरण जो आत्मनिर्भर वृद्धि को व्यक्त करता है। विकास का रहस्य परम्परागत और विशेषत पूर्वदशात्मक चरण मे प्रयुक्त कुछ युक्तियो मे निहित होता है। अर्थव्यवस्था मे आर्थिक आय के एक निश्चित अश की बचत होनी चाहिए न कि उपभोग वृद्धि मे नये निवेश की जरूरत होती है जिससे कि सचित पूँजी की मात्रा मे वृद्धि हो। सकल राष्ट्रीय उत्पाद मे 15 से 20 प्रतिशत तक बचत करनेवाले देश इससे कम बचत करनेवाले देशा की अपेक्षा अधिक तीव्रगति से विकसित हुए। मार्क्सवाद के एक उदारवादी विकल्प के रूप मे यह दृष्टि-एक गैरसाम्यवादी घोषणा पत्र-मानती है कि वृद्धि के सामान्य परिणाम के रूप मे कुछ पुनर्वितरण अवश्य होता है चाहे इससे प्रति व्यक्ति आय मे बराबरी न आती हो। इसके तर्क सरल हैं अर्थव्यवस्था मे जितना ही उत्पादन होगा लोगो के पाने के अवसर भी उतने ही अधिक होगे। आरम्भिक चरणो मे रॉस्टोव की यह सस्तुति है कि कृषि से उत्पन्न अतिरिक्त उत्पादन औद्योगिक क्षेत्र मे लगाना चाहिए। बाद मे प्रगतिशील आयकर लागू किया जा सकता है।

इस उपागम मे और बाद के इसके विभिन्न परिवर्धनो और परिमार्जनो मे पूँजी के सचय पर बल दिया गया और श्रम शक्ति विकास तथा तकनीकी प्रगति को आर्थिक वृद्धि का प्रमुख अवयव माना गया। इनका अभाव विभिन्न समाजो के आर्थिक पिछडेपन की व्याख्या कर सकेगा ऐसा माना जाना चाहिए। इसमे चार मुख्य कमियाँ देखी जा सकती हैं 1 आर्थिक विकास की इसकी व्याख्या आशिक और सीमित है तथा कुछ देशो मे आरम्भिक उत्तेजना और उद्योगीकरण के विकास मे उपनिवेशवाद की भूमिका पर विशेष ध्यान नहीं देती है 2 यह अनेक देशो मे आर्थिक पिछडेपन की सन्तोषजनक व्याख्या नहीं करता विशेष रूप से साम्राज्यवाद के साथ उनके सम्बन्धो के प्रसग मे 3 यह राज्य को सीमित भूमिका देता है और वह भी कुछ खास दशाओ मे और 4 यह गरीबी के प्रति पूरी तरह सवेदनशील नहीं है तथा वितरण पर अपक्षित बल नहीं देता। मार्क्सवादी नवमार्क्सवादी और अन्य क्रान्तिकारी आलोचको ने इनमे से प्रथम दो कमियो की ओर आपत्तियाँ उठाई हैं। कीन्स ने राज्य के सीमित कार्य के लिए अवसर दिया जिसका क्षेत्र क्रमश बढता रहा। समाजवादी अर्थतन्त्र जैसे सोवियत सघ तथा अन्य इस मॉडल का अनुसरण कर रहे थे वे केन्द्रीय रूप से नियोजन पर बल देते थे। तीसरी दुनिया जिसका अधिकाश भाग औपनिवेशिक राज्यो से था-ने भी नियोजित विकास का रास्ता अपनाया। इन देशो के सन्दर्भ मे गरीबी और पुनर्वितरण के बारे मे उदारवादी परम्परा ने कुछ हद तक गहरा आत्मालोचन किया है।

जैसा कि सुविदित है गरीबी की अटूट चक्र एक ऐसी स्वय को पुनर्बलित करनेवाली स्थिति है जिसमे विद्यमान कुछ अवाछित कारक उस समय तक एक दूसरे को जन्म देते रहते हैं जब तक कि चक्र पूरा नही हो जाता। दूसरे शब्दो मे 'गरीबी से निम्न उपभोग होता है जिससे स्वास्थ्य हानि होती है जिसके कारण निम्न उत्पादकता होती है जो गरीबी को बनाये रखने मे योगदान करती है। यह आर्थिक पिछडेपन की एक स्थापित व्याख्या है, और इसके द्वारा जिस एकमात्र उपाय को सुझाया जा सकता है, वह वही है जो प्राचीन उदार मॉडल प्रदान करता है। मिर्डल (1970) ने 'चक्रीय सचयी कारणता की प्रक्रिया के नाम से लगभग ऐसी ही बात कही है हालाँकि उनका विश्लेषण अधिक जटिल स्तर पर है और कार्य नीति के लिए कुछ अनुशसाएँ भी उसमे प्रस्तुत हैं। वे सस्थागत परिवर्तन पर जोर देते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सरचना का उपागम, जिसका उल्लेख आगे किया जाएगा समस्या मे अधिक गहरी पैठ रखता है और उसके ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय और आर्थिक आयामो को उद्घाटित करता है।

इसी बीच विकास के लक्ष्यो के बारे मे पुनर्विचार भी हुए हैं। वृद्धि के विचार का आकर्षण धूमिल पडने लगा था, अदृश्य हाथ (ऐडम स्मिथ का 1776 का तर्क कि व्यक्ति की अपनी रुचि का अबाध्य विस्तार स्वत सामाजिक रुचि को बढाएगा) प्रत्याशित चमत्कार नही दिखा सका, और 'वृद्धि के साथ पुनर्वितरण' के नये नारे के साथ वितरण को पुन महत्त्व मिला। डडले सीयर्स (1969) ने इस सरोकार को सरल किन्तु प्रभावशाली रूप से निम्नाकित शब्दो मे व्यक्त किया है

> एक देश के विकास के बारे मे पूछे जानेवाला प्रश्न है गरीबी के साथ क्या होता रहा है ? बेराजगारी के साथ क्या होता रहा है ? असमानता के साथ क्या होता रहा है ? यदि इन तीनो की उच्च मात्राओ मे कमी आयी है तो निस्सन्देह उस देश मे उक्त अवधि मे विकास हुआ है। यदि इनमे से एक या दो केन्द्रीय समस्याओ की हालत और दयनीय हुई है, विशेषत यदि सभी तीन की तो इस परिणाम को विकास' नहीं कह सकते, चाहे प्रतिव्यक्ति आय दुगनी ही क्यो न हो गयी हो।

कुजनेट्स ने अपने 1971 के नोबेल व्याख्यान मे आधुनिक आर्थिक वृद्धि की विशेषताओ को सारगर्भित ढग से प्रस्तुत किया है

> पहले और सबसे अधिक स्पष्ट है विकसित देशो मे प्रतिव्यक्ति उत्पाद तथा जनसख्या मे वृद्धि की उच्च दर। इन देशो मे पहले प्राप्त की गयी दरो और शेष विश्व की वर्तमान दरो मे कई गुना अधिक वृद्धि देखी गई है, कम से कम पिछले एक या दो दशको तक। दूसरे उत्पादकता की दर मे वृद्धि अर्थात् निवेशो की प्रत्येक इकाई के उत्पाद उच्च हैं, यहाँ तक कि

जब हम निवेश मे श्रम–जो प्रमुख उत्पादक तत्त्व है–के अतिरिक्त अन्य तत्त्वो को भी सम्मिलित कर लेते हैं और यहाँ भी पहले की दर से नयी दर कई गुना अधिक है। तीसरे, अर्थव्यवस्था के सरचनात्मक बदलाव की दर भी ऊँची होती है। सरचनात्मक परिवर्तन के प्रमुख पक्षो मे आते हैं–कृषि से हटकर गैर खेतिहर कामो (उद्योगों) की ओर झुकाव और, फिर क्रमश उद्योग से सेवाओ की ओर उत्पादक इकाइयो के आकार मे परिवर्तन, व्यक्तिगत उपक्रम से अवैयक्तिक आर्थिक सगठना की ओर बदलाव, जिसमे समानान्तर श्रम की व्यावसायिक प्रस्थिति मे बदलाव आता है। आर्थिक सरचना के कुछ अन्य पक्षो मे परिवर्तन भी जोडे जा सकते हैं–उपभोग की सरचना मे, आन्तरिक और विदेशी पूर्ति के सापेक्षिक मूल्य आदि। चौथे, समाज और इसकी विचारधारा की (उपर्युक्त से जुडी अन्य) महत्त्वपूर्ण सरचनाओ मे तेजी से बदलाव आता है। नगरीकरण और धर्मनिरपेक्षता हमारे मन मे समाजशास्त्रियो की आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के अवयव के रूप मे उभरकर आती हैं। पाँचवीं, अपनी बढ़ी हुई तकनीकी शक्ति के द्वारा, आर्थिक दृष्टि से विकसित देश, विशेषत परिवहन और सचार के क्षेत्रो मे (शान्ति और युद्ध की स्थितियो में) शेष विश्व तक पहुँचने की क्षमता से–कुछ दिनों पूर्व तक जो सम्भव नहीं था–'एक विश्व' को सम्भव बना रहे हैं। छठा, आधुनिक आर्थिक वृद्धि का विस्तार, समस्त विश्व मे फैले अपने आशिक प्रभाव के बावजूद, इस अर्थ मे सीमित है कि विश्व की समस्त जनसख्या के 3/4 भाग के प्रतिनिधि देशो का आर्थिक निष्पादन आधुनिक प्राविधिक क्षमताओ की सहायता से प्राप्त किये जा सकनेवाले न्यूनतम स्तर के नीचे ही रहता है।

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि कुजनेट्स ने दो समष्टिगत आर्थिक परिवर्त्यों, दो सरचनात्मक परिवर्तन के परिवर्त्यों तथा वृद्धि के अन्तर्राष्ट्रीय विस्तार को प्रभावित करनेवाले दो कारको का उपयोग किया है। राष्ट्रीय उत्पाद मे सुस्थिर वृद्धि–जो दीर्घकाल तक अपनी जनसख्या को विभिन्न प्रकार की आवश्यक वस्तुओ की आपूर्ति की क्षमता का परिणाम होती है–आर्थिक परिपक्वता का चिह्न है। निरन्तर आर्थिक प्रगति की आवश्यक शर्त है उच्चतर प्रविधि। सस्थागत, अभिवृत्तिगत तथा वैचारिक समायोजन आवश्यक हैं, जिनके बिना तकनीकी नवाचार व्यर्थ हो सकते हैं। जनसख्या मे उत्पादो के वितरण का प्रसार स्पष्टत व्यक्त नहीं किया गया है। कुजनेट्स केवल सरचनात्मक समायोजन, न कि परिवर्तन, की बात करते हैं और निश्चित रूप से उन्नति का उल्लेख करते हैं। वृद्धि के अन्तर्राष्ट्रीय विस्तार के विश्लेपण के क्रम मे यह मुख्य मुद्दे की ओर सकेत करता है।

आर्थिक विकास के सिद्धान्त की इस पृष्ठभूमि मे हम असहमति के प्रमुख स्वरो की परीक्षा करेगे परन्तु ऐसा करने के पूर्व कट्टर मार्क्सवादी सिद्धान्त का सक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है। मार्क्सवादी दृष्टि भी वस्तुत विकासवादी है और रैखिक है इसमे आदिम साम्यवाद से वर्गहीन समाज के अन्तिम रूप की दिशा मे परिवर्तन निरूपित है। इस प्रक्रिया मे पूँजीवाद एक आवश्यक और यहा तक कि एक वाछित चरण है हालाँकि मानवता की प्रगति वही पर नही ठहर जाती है। उत्पादन के सम्बन्ध समाज की व्यवस्था को निर्धारित करते हैं और उसके आन्तरिक अन्तर्विरोध समाज को एक स्थिति से दूसरी ऊची स्थिति मे ले जाते हैं। अपने अन्तर्विरोध का समाधान न कर पाने के कारण पूँजीवादी व्यवस्था टूटकर साम्यवादी व्यवस्था द्वारा प्रतिस्थापित होगी और वर्ग के अन्तर्विरोधो से मुक्त होकर स्थिर और स्थायी हो जाएगी। मार्क्स ने इतिहास के एक दर्शन को रचा है उसने कार्य के लिए एक रूपरेखा बनाई तथा विश्व के आनेवाले समय के लिए भविष्यवाणी की। सामाजिक विकास के उसके दृष्टिकोण मे आर्थिक विकास अन्तर्निहित था। यद्यपि मार्क्स भी कुछ अर्थो मे यूरोपकेन्द्रित है उसकी विचारधारा सार्वभौमिक महत्त्व रखती है। बाद के उसके अनुगामियो 'नवमार्क्सवादी विचारको ने विकास के पाश्चात्य सिद्धान्त की कुछ उत्कृष्ट आलोचनाएं प्रस्तुत की हैं।

**असहमति के स्वर** उदार पश्चिमी चिन्तन का प्रतिनिधित्व करनवाले विकास के अध्येताओ को तीसरी दुनिया मे अब पहले की तरह विस्मयाकुल श्रद्धा के साथ नही सुना जा रहा। उन्हे ऐसा झूठा मसीहा माना गया जिसके गलत प्रारूप ने विकास के प्रयासो को व्यापक रूप से दिग्भ्रमित किया। असहमति के वे स्वर जो आरम्भ मे बडे ही क्षीण थे अब शक्ति पा चुके हैं। प्रारूप की असफलता ही मुख्यत इस बहुआयामी असहमति की पृष्ठभूमि म थी। कुछ लोग जो आरम्भ मे इसके उत्साही समर्थक थे उनका मन टूट गया और वे वैकल्पिक उपायो के बारे मे सोचने लगे। माओ क विचार और चीनी जन गणत त्र की उपलब्धियो ने बहुतो को प्रेरित किया इनम से कुछ लोग ऐसे भी थे जो आरम्भ मे इसकी कटु आलोचना कर चुके थे। साथ ही देर स ही सही गाँधी के आर्थिक दर्शन की गरीबी के सन्दर्भ मे और औद्योगिक सभ्यता की त्रासदी के विवेचन के सन्दर्भ म फिर से खोज हुई है। एक तीसरी दृष्टि स्वतन्त्रचेता तीसरी दुनिया के अध्येताओ और समान दृष्टिवाले पाश्चात्य सहकर्मियो द्वारा प्रस्तुत हुई जिसने प्रचलित प्रारूप की कमियो को खोजा उनका विश्लेषण किया और वैकल्पिक माडलो को विकसित किया।

कैम्ब्रिज तथा येल मे शिक्षित विश्वबैंक के अधिकारी तथा बाद मे कुछ समय पाकिस्तान के प्रभावशाली मत्री **महबूब उल हक** पहली प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्हीं जैसे आर भी हैं। हक की द पावर्टी कर्टेन (1976) एक प्रशसनीय कृति है। इसमे उनके बोद्धिक विकास की रूपरेखा के साथ कुछ प्रभावशाली विश्लेषण

हैं। आरम्भ मे (पृ 3 5) वह पाश्चात्य मॉडेल का पक्ष प्रतिपादित करते हैं। क्रमशः अनुभव से सीखकर अन्तत यह सुझाव देते हैं (पृ 27) कि

1 सकल राष्ट्रीय उत्पाद मे वृद्धि छनकर नीचे तक नही जाती। जरूरी है व्यापक गरीबी पर सीधा प्रहार।
2 आय और सम्पत्ति का वर्तमान वितरण प्राय बाजार प्रक्रिया को निरूपित कर देता है। यह राष्ट्रीय लक्ष्यो को निर्धारित करने के लिए एक अविश्वसनीय निर्देशक है।
3 उचित मूल्य सकेतक की अपेक्षा सस्थागत सुधार प्रासगिक विकास की युक्तियो को आगे बढाने मे अधिक निर्णायक होते हैं।
4 विकास की नयी युक्तियाँ मूलभूत मानव-आवश्यकताओ की सन्तुष्टि पर निर्भर होनी चाहिए, न कि बाजार की माँग पर।
5 विकास की शैली ऐसी होनी चाहिए कि विकास जनता के चतुर्दिक हो, न कि जनता विकास के चतुर्दिक हो।
6 वितरण और रोजगार की नीतियाँ किसी भी उत्पादन योजना का अग होनी चाहिए। यह प्राय असम्भव होता है कि उत्पादन पहल हो और वितरण पर बाद मे विचार किया जाए।
7 वितरण की नीतियो मे एक महत्त्वपूर्ण अवयव यह होगा कि निवेश की दिशा को समाज के गरीब वर्ग की ओर उन्मुख कर गरीबो की उत्पादकता को बढाया जाए।
8 जन सरचना के वहुलाश तक विकास के असर को पहुँचाने के लिए राजनीतिक और आर्थिक सामर्थ्य के सम्बन्धो की क्रान्तिकारी पुनर्रचना आवश्यक है।

महवूब उल हक जैसे अन्य लोग भी अन्तःक्षोभ से पीडित हुए हैं, पर वे इसके बारे मे मुखर नहीं हुए। आश्चर्य तो यह है कि स्वय महबूब उल हक अब अपनी क्रान्तिकारी मुद्रा को छोडकर मुक्त अर्थ व्यवस्था के समर्थक हो गए हैं।

महात्मा (गाँधी) तथा माओ एक आश्चर्यजनक जोडी है एक अहिंसावादी था, दूसरा बन्दूक की नाल मे शक्ति के अस्तित्व को स्वीकारता था, एक ईश्वर मे विश्वास रखता था, दूसरा अनीश्वरवादी था, एक ने मितव्ययिता को जीवन की शैली माना, दूसरे ने उसे कुछ समय के लिए ही उपयुक्त माना। पर दोनो मे कई समानताएँ भी थीं। दोनो ही आम आदमी के लिए चिन्तित थे, दोनो ही श्रम की महानता मे विश्वास करते थे, दोनो ही आत्मनिर्भरता के दर्शन की वकालत करते थे और दोनो ने ही स्वय सीमित समाज का आदर्श प्रक्षेपित किया। दोनो ने अपने-अपने उद्देश्यो के लिए व्यापक जनसमूह को आन्दोलित किया।

अनेक वर्षो तक उपेक्षित रहने के बाद गाँधी के विचारो की फिर से खोज विकास पर बहस के सन्दर्भ मे कई कारणो से प्रासगिक है। गाँधी म औद्योगिक सभ्यता की आनेवाली त्रासदी को देखने की दृष्टि थी, उनका ध्यान गरीबो और वचिता पर था, तक्नीकी विकल्पो और उत्पादन की मात्रा के बारे मे उनक सुनिश्चित विचार थे। वे आत्मनिर्भरता के जोरदार हिमायती थे, समुदाय की प्रकृति के बारे म उनकी अवधारणाएँ महत्त्वपूर्ण थी सामाजिक बदलाव के लिए प्रमुख उपकरण के रूप म जन-आन्दालन पर उनका भरोसा था, और वे नैतिक व्यवस्था का प्राथमिकता देते थे-राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोना स्तरा पर। वैकल्पिक विचार पद्धतिया पर उनके महत्त्व को आँकने क लिए हम शुम्पीटर और इलिच आदि को पढना जरूरी नही हे।

दूसरी ओर माओ विकास की एक वैकल्पिक शैली को सम्भव बनाने क लिए महत्त्वपूर्ण हैं। चीन के बाहर उनकी रणनीति आलोचित हुई क्योंकि वह विकास के स्वीकृत चिन्तन के विरुद्ध थी पर उसने असम्भव को सम्भव कर दिखाया। महबूब उल हक के शब्दो मे

> दो दशको से कम की अवधि मे चीन ने गरीबी के निकृष्टतम रूप को समाप्त कर दिया है, देश मे पूर्ण रोजगारी हे, सार्वभौमिक साक्षरता तथा उपयुक्त स्वास्थ्य सुविधाएँ हैं, वह प्रकट कुपोषण या गन्दगी स ग्रस्त नही है इससे भी अधिक महत्त्व की बात यह है कि चीन ने यह सब परिणाम वृद्धि की साधारण दर पर प्राप्त किया है, सकल राष्ट्रीय उत्पाद के स्वरूप और वितरण पर अधिक ध्यान देकर। वस्तुत चीन ने यह साबित कर दिया है कि यह एक भ्रम है कि गरीबी का समापन और पूर्ण रोजगार कवल उच्च वृद्धि दर और कई दशकों की अवधि म ही सम्भव है।
>
> चीन ने यह सब कैसे प्राप्त किया ? यह सही है कि इसकी राजनीतिक व्यवस्था, इसका अलगाव, इसका विराट आकार, इसका विचारधारा के आधार पर जन जागरण-इन सबने विकास के इस रूप का आकार देन म योगदान दिया है। परन्तु इसकी राजनीतिक प्रणाली को न मानते हुए भी कई पाठ सीखने योग्य हैं। क्या यहाँ पर गरीबी की समस्याओ पर चुनिदा प्रहार, एक सीमान्त आय और न्यूनतम उपभोग स्तर को पाने के प्रयास, उत्पादन और वितरण की नीतियो का सम्मिलन तथा पूँजी की सीमित आपूर्ति के आधार पर पूर्ण रोजगार पाने का उदाहरण नहीं है ? यह कहना कोई अर्थ नहीं रखता कि ये परिणाम अत्यधिक सामाजिक और राजनीतिक कीमत चुकाकर मिले हैं, विकासशील देशा के लाग भी बिना किसी प्रकट आर्थिक परिणाम क ऐसी कीमतो को अदा कर रहे हैं। वे चीन के अनुभव को ईर्ष्या और प्रशसा की दृष्टि से देखत हैं। अब समय आ गया है, विशेषत

चीन के अलगाव के समाप्त होने पर, कि अब तक की चर्चाओ के बदले उसके अनुभव का वस्तुनिष्ठ तथा विस्तृत अध्ययन हो।

इसके बाद चीन मे चार आधुनिकरणो–कृषि, उद्योग, सुरक्षा और शिक्षा–का युग आया। वे प्राथमिकताएँ सम्भवत विकासक्रम की अनिवार्यताएँ थी, तथापि यह स्मरणीय है कि उनकी आधारशिला माओ ने रखी थी। गाँधी की अवधारणाएँ तथा माओ का आचरण दोनो गम्भीर विश्लेषणात्मक अध्ययन की अपेक्षा करते हैं।

विकास की दिशा मे तीसरी दुनिया के प्रयास कम से कम तीन चरणो–अनुकरणात्मक प्रतिक्रियात्मक तथा प्रयोगात्मक–से गुजर चुके हैं। इस समय वे चौथे चरण से गुजर रहे हैं जो विकल्प की खोज पर केंद्रित है। पहले चरण मे पश्चिमी विचार और मॉडल बिना झिझक अपना लिये गये। कुछ का अनुकूलन किया गया और कुछ अवयव सोवियत मॉडल से लिये गये। समाजवादी देश निश्चय ही अपवाद थे। प्रतिक्रियात्मक चरण मे नयी विचारधाराएँ उभरीं–अफ्रीकी समाजवाद, मूलभूत जनतन्त्र, विकास का भारतीय मार्ग इत्यादि। इन सबमे सुर अधिक था और सार कम, इनके द्वारा विकास के प्रचलित प्रारूप मे कुछ स्वरभेदक चिह्न जोडे गए। इस चरण के बाद अनेक युक्तियो के प्रयोग किये गये–नियन्त्रण, अनियन्त्रण, आयात प्रतिस्थापन, निर्यात को बढावा, उद्योगीकरण, जनसख्या नियन्त्रण, सामुदायिक विकास और तीव्र कृषि विकास, गरीबी का निवारण, रोजगार निर्माण इत्यादि।

विकास सिद्धान्त मे 1950 के बाद उभरे प्रमुख मुद्दो को सहजता और योग्यता के साथ ब्योर्न हेट्ने ने अपनी सक्षिप्त, पर विचारप्रवण पुस्तक **करेंट इश्यूज इन** *डेवलपमेंट थियरी (1978) तथा बाद के अन्य लेखो मे प्रस्तुत किया है। यही बिन्दु* विकास पर लम्बे समय तक चली बहस मे भी उभरकर आए। इन्हे दुहराना अनावश्यक है, केवल असहमति के प्रमुख तर्कों को ही यहाँ रेखांकित किया जाएगा। ये अशत प्रतिक्रियात्मक हैं, अशत यथार्थ की नयी समझ से उत्पन्न हैं और अशत देशज सृजनात्मकता ओर चिन्तन की परिणति हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय सरचनात्मक मॉडल के रूप मे जानी जानेवाली जो रूपरेखा उभरी है, उसका खाका अब प्रस्तुत किया जा सकता है

1 अल्पविकास एक उत्पन्न की हुई स्थिति है, वैकासिक प्रक्रिया की आदिम स्थिति नहीं है। इस तथ्य को टी डास सैन्टोज (1969) ने अच्छी तरह व्यक्त किया है

> अल्पविकास, पूँजीवाद के पूर्व की पिछडेपन की स्थिति न होकर पूँजीवादी विकास का एक परिणाम और एक विशेष प्रकार है, जिसे हम निर्भर पूँजीवाद कह सकते हैं निर्भरता एक अनुबन्धन की स्थिति है जिसमे देशो के एक समूह का अर्थतन्त्र दूसरो के विकास और विस्तार के द्वारा अनुबन्धित होता *है। दो या अधिक अर्थव्यवस्थाओ मे परस्पर निर्भरता का सम्बन्ध या ऐसी*

अर्थव्यवस्थाओं और विश्व व्यापार व्यवस्था के बीच एक निर्भर सम्बन्ध बन जाता है जब कुछ देश अपनी इच्छा से विस्तार करते हैं परन्तु दूसरे निर्भरता की स्थिति म रहने के कारण केवल शक्तिशाली देशो के विस्तार की छाया मात्र रह जाते हैं। उनके तात्कालिक विकास पर वह स्थिति सकारात्मक या नकारात्मक प्रभाव डाल सकती है। निर्भरता की मूलभूत स्थिति इन देशो को पिछडा और शोषित बनाये रखती है। शक्तिशाली देश तकनीकी वाणिज्य पूँजी तथा सामाजिक राजनीतिक दृष्टि से निर्भर देशो पर अपना प्रभुत्व जमाये रखते हैं–इस प्रभुत्व का स्वरूप विशिष्ट ऐतिहासिक समय के अनुसार अलग-अलग होता है। प्रभु देश उनका शोषण कर सकते हैं और स्थानीय रूप से उत्पन्न अतिरिक्त अश को निचोड सकते हैं। इस तरह निर्भरता श्रम के एक अन्तर्राष्ट्रीय विभाजन पर निर्भर है जो कुछ देशो मे औद्योगिक विकास बढाता है और उन देशो मे प्रतिबन्धित करता है जिनकी वृद्धि विश्व के शक्ति-केन्द्रो द्वारा अनुबन्धित और निर्धारित होती है।

2 विकास अनिवार्य रूप से केन्द्र से परिधि की ओर नही चलता। इसके विपरीत जैसा कि **पाल बरन** (1962) ने सुझाया है परिधि का अवरुद्ध विकास केन्द्र के विकास की परिणति होता है। उद्योगप्रधान तथा पूँजीवादी देशो का प्रसार अवरुद्ध विकास को जन्म देता है और उसे निरन्तर बनाये रखता है। अस्तु विकास और अवरुद्ध अपविकास एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। **आन्द्रे गुडर फ्रैंक** (1971) विकास और अवरुद्ध विकास की व्याख्या करते हुए एक कदम आगे बढकर यह भविष्य कथन करते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था मे अवरुद्ध विकास के एक स्थायी पण बने रहने की सम्भावना निहित रहती है।

3 पूँजीवादी विकास अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय दोनो स्तरो पर एक द्वैध उत्पन्न करता है। श्रेष्ठ और निम्न के सम्बन्ध स्थायी रूप ले लेते हैं इन दोनो के बीच की दूरी वास्तव मे बढती जाती है और इस निर्भरता सम्बन्ध को कई कारणो के बीच की अन्तर्क्रिया बनाये रखती है। श्रेष्ठ कोटि के देश अपनी सुविधा के अनुसार विश्व के ससाधनो के वितरण और उत्पादो के बाजार को यथा इच्छा बदल सकते हे दुर्लभ कच्चे माल तक उनकी सुविधापूर्वक पहुँच रहती है और वे अल्पविकसित देशो की राजनीतिक सरचना और आर्थिक योजनाओ को उलटने पुलटने की क्षमता रखते हैं। वे तीसरी दुनिया के सुविधासम्पन्न अभिजात वर्ग से जुड रहते हे और परस्पर एक दूसर के समर्थन का सम्बन्ध रखते है।

4 तीसरी दुनिया म अन्तर्राष्ट्रीय द्वैत सघन और शक्ति के छोटे छोटे केन्द्र उत्पन्न करता हे जबकि परिधि विपन्न और दलित ही बनी रहती है। बहुसख्यक जनता विकास द्वारा नाममात्र के लिए ही लाभान्वित होती है। ऊपर के 20% तथा नीचे के 40% के बीच की दूरी बढती जाती है धनी व्यक्ति धनी होते जाते

हैं, गरीबो के सीमान्तीकरण की गति बढती जाती है। सामन्ती सरचना बहुत थोडी मात्रा मे बदलती है। परोपजीवी बुर्जुआ वर्ग इस स्थिति मे उत्पादन की शक्ति को मुक्ति दिलाने की अपनी ऐतिहासिक भूमिका नही निभाता। सार्थक सरचनात्मक परिवर्तन ऊपरी तबके के थोडे से लोगो के हाथो मे शक्ति के केन्द्रित रहने के कारण और शक्तिशाली बाहरी सरक्षक के साथ उनके गठजोड के कारण कठिन हो जाता है।

5 अन्तर्राष्ट्रीय सहायता आँसू पोछना मात्र है। यह तीसरी दुनिया को ऐसे गलत प्रारूप देता है जिसका उद्देश्य न तो अल्पविकसित देशो को–उसकी गरीब जनता को–ऊपर उठाना होता है और न वह ऐसा कर ही सकता है। विकसित देशो की शोषक नीतियाँ, अनुपयुक्त तकनीक हस्तान्तरण, व्यापार की असमान शर्तें तथा गलत दिशा मे सहायता अल्पविकास के अस्तित्व को बनाये रखती है। अन्तिम विश्लेषण मे तथाकथित सहायता केवल निर्भरता के सम्बन्धो को दृढ करती है।

6 निर्भरता के कुछ अन्य हानिकर आनुषगिक परिणाम भी होते हैं। यह बौद्धिक उपनिवेशवाद, अप्रासगिक शिक्षा व्यवस्था को जन्म देती है तथा प्रतिभाओ को आकर्षक आर्थिक पुरस्कार के लोभ मे अल्पविकसित देशो से दूर ले जाती है। समृद्ध देशो मे जीवन के उच्च स्तर का 'प्रदर्शन प्रभाव' तीसरी दुनिया मे आधुनिकीकरण को दिग्भ्रमित करता है।

साराश मे निर्भरता सिन्ड्रोम अल्पविकसित देशो को समृद्ध और शक्तिसम्पन्न देशो की घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय नीतियो से बाँध देता है और उनके स्वाधीन और देशज विकास की सम्भावना को उलट पुलट देता है।

उपर्युक्त सक्षिप्त चर्चा स्वाभाविक रूप से विकास के बारे मे निर्भरतावादी चिन्तन सम्प्रदाय या नवमार्क्सवादी आलोचना के सभी प्रमुख बिन्दुओ का स्पर्श नहीं कर सकी है। न ही यह पश्चिम मे उभर रही आलोचनाओ को ही ठीक ढग से ग्रहण कर सकी है। वे प्रचलित विकास प्रारूप को चुनौती देती हैं और विकास के बारे मे सोचने के क्षेत्र मे देशज चिंतन और अनुभव लाने की दिशा मे प्रयास करती हैं। निर्भरता, देशीपन, अन्त केन्द्रित विकास तथा सीमान्तता की अवधारणाएँ महत्त्वपूर्ण हैं, पर वे मिलकर भी विकास या अल्पविकास का कोई सार्वभौमिक सिद्धान्त नहीं बना पाती। निर्भरता द्वारा काफी कुछ की व्याख्या हो जाती है, पर समग्र की नही। अल्पविकास की सारी गडबडियाँ केवल समृद्ध देशो पर नहीं थोपी जा सकतीं। पहली बात तो यह है कि फैलते हुए साम्राज्यवाद के कारण तीसरी दुनिया ने जो खोया वह क्यों खोया ? निर्भरता का सिद्धान्त अकर्मण्यता का एक कारण हो सकता है। क्या आत्मालोचन आवश्यक नही है ? पिछले तीन दशको मे तीसरी दुनिया ने किन सुधारात्मक उपायो को खोजा है ? बेमन से ही, पर हमे उन छोटे लोगो को स्वीकारना होगा जो आधार रचना, सगठन और आदर्शो

के रूप म पश्चिमी प्रभुत्व से मिले हैं। समृद्ध देशो मे सतत आर्थिक वृद्धि ने कुछ अल्पविकसित देशो मे उत्पाद की वृद्धि दर को उनके अतीत काल से भी अधिक बढाया है। परन्तु इसमे जैसा कि सिगर (1970) ने कहा है एक त्रुटि है

वे शक्तियाँ जो तीव्र वृद्धि के कारण समृद्ध देशो मे सक्रिय हैं–विशेषत जटिल कीमती तथा अधिक पूजीवाली तकनीको का विकास और मृत्यु दर क घटानेवाले स्वास्थ्यकर तकनीको तथा रोग नियन्त्रण क क्षेत्र मे–ऐसी हैं जो विपन्न देशो मे उपद्रव उत्पन्न करती हैं। जनसख्या विस्फोट बढती बेरोजगारी और अपनी तकनीकी क्षमता को विकसित न कर पाना इस बात की पुष्टि कर देते हैं कि वर्तमान विकास दर को निरन्तर बनाये रखने के लिए उनके पास आवश्यक समय नही रहेगा जिसमे वे स्वीकारणीय विकास के स्तर को पा सके। तीव्र बनाने की तो बात ही छोड दीजिए।

अनुत्तरित रहनवाले प्रमुख प्रश्न हैं निर्भरता से अर्थतन्त्र को किस भाति मुक्त कराया जाए ? केन्द्र का परिधि से कैसे सम्बन्धविच्छेद किया जाय ताकि आय का समान वितरण अधिक सन्तोषजनक हो सके ?

**भविष्य के लिए आदर्श–नियो (NIEO) तथा अन्य विकास** भविष्य मानवता का एक प्रमुख सरोकार है। *विकल्पो की व्यापक स्तर पर खोज जारी है विकास* के मॉडलो का निर्माण एक छोटा मोटा बौद्धिक व्यवसाय हो गया है। अन्तर्राष्ट्रीय मच विभिन्न स्तरो पर शिकायतो को सामने रखने सौदेबाजी तथा अधिक न्यायसगत और समता के नियमो के अनुरूप विश्व की अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिए तर्क और आक्रोश की अभिव्यक्ति के काम मे आ रहे हैं। सयुक्त राष्ट्रसघ ने अपने दो महत्त्वपूर्ण प्रस्तावो द्वारा नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था (NIEO) की रूपरेखा और दिशा निर्देशो को रेखाकित किया है। स्वतन्त्र पर समान ढग से सोचनेवाले विशेषज्ञो द्वारा किया गया सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान 1974 का **कोकोयाक घोषणा प्रस्ताव है** 1975 के थर्ड वर्ल्ड फोरम द्वारा प्रस्तुत दस्तावेज तथा ब्रेडट आयोग द्वारा प्रस्तुत **नार्थ-साऊथ रिपोर्ट** (1980)। सयुक्त राष्ट्रसघ की सामान्य सभा के सातवे विशेष अधिवेशन के सम्मुख प्रस्तुत डाग हैमरशोल्ड फाउडेशन द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन **ह्वाट नाउ** ऐनदर डेवलपमेंट (1975) स्वय मे एक विशिष्ट योगदान है। आगे जो टिप्पणियाँ दी जा रही हैं वे सयुक्त राष्ट्रसघ समर्थित **नियो** और **ह्वाट नाउ** इन दो प्रमुख उदाहरणो–एक सरकारी और एक गैरसरकारी–पर आधारित हैं।

सयुक्त राष्ट्र के दस्तावज से व्यवस्थित सिद्धान्तो के प्रतिपादन की अपेक्षा नहीं है वे अधिक से अधिक एक कार्योन्मुख सहमति को प्रस्तुत करते हैं। कोई भी सहमति विशेषत सयुक्त राष्ट्रसघ के स्तर पर व्यावहारिक समायोजन और समझौतो को व्यक्त करती है। इस सीमा के बावजूद सयुक्त राष्ट्रसघ द्वारा **नियो** पर प्रस्तुत दो दस्तावेजो–320 (S VI) तथा 3202 (S VI)–न व्यापक ध्यान

आकृष्ट किया है और कुछ आशा जगाई है। इन प्रस्तावो की संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है

1 अल्पविकसित देशो को अपने उत्पादन मे वृद्धि पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए (तथा उन्हे इसके लिए सहायता भी मिलनी चाहिए)। इस लक्ष्य को व्यापक व्यवस्था का इस तरह पुनर्गठन करके पाया जा सकता है कि इस प्रक्रिया मे सभी अवयव लाभ प्राप्त करे। इस हेतु उन्हे अन्तर्राष्ट्रीय बाजार से जुड़ना होगा। उद्योगीकृत देशा को आयात चुगी घटानी होगी, विकासशील देशो के प्राकृतिक ससाधनो के उपयोग को प्रोत्साहन देना होगा और विकास-सहायता की मात्रा को बढाना होगा। अल्पविकसित देशो के उद्योगीकरण को प्राविधिक हस्तान्तरण तथा निर्यात मे वृद्धि के द्वारा समर्थित करना होगा।

2 धन के असमान वितरण पर तार्किक दृष्टि से उपयुक्त, न्यायसगत तथा बराबरी की व्यवस्था लाने के बारे मे विचार करना होगा। इसके सुझाये गये उपाय हैं—व्यापक आर्थिक निर्णय प्रक्रिया मे अल्पविकसित देशो की पूर्ण भागीदारी, व्यापार की अच्छी शर्ते कच्चे माल को लेकर विशेष समझौते और बहुराष्ट्रीय सगठनो पर नियन्त्रण।

3 तीसरी दुनिया मे क्षेत्रीय बाजारो को बनाकर सामूहिक स्वनिर्भरता को प्रोत्साहित करने की कोशिश भी करनी चाहिए।

4 प्राकृतिक ससाधनो के दोहन तथा उससे उत्पन्न धन के पूर्ण वितरण के प्रबन्ध के लिए उत्पादक परिषदे बनानी चाहिए।

मानदण्डा की उपर्युक्त रूपरेखा पवित्र इरादो की घोषणा है। यदि यह स्वीकृत हो तो परिस्थिति को कुछ अच्छा तो बना देगी, पर सरचनात्मक परिवर्तन नहीं ला सकेगी। वस्तुत सयुक्त राष्ट्रसघ कुछ सीमाओ के भीतर काम करता है, वह अनुनय कर सकता है, दबाव डाल सकता है, पर अपने निर्णयो को लागू नहीं कर सकता। उसे सदस्य देशो की समान सम्प्रभुता को सामान्यत मानना होगा और उनके आन्तरिक मामलो मे दखल की प्रवृत्ति पर अकुश लगाना होगा। नियो के अन्तर्गत अभीष्ट तीसरी दुनिया की अर्थव्यवस्था को अन्तर्राष्ट्रीय बाजार से जुटने का उपाय सन्दिग्ध उपयोगिता का है। इसकी शर्ते क्या होगी ? वर्चस्ववादी शक्तियो द्वारा शोषण पर रोक कैसे लगायी जा सकेगी ?

ऐनदर डेवलपमेंट वाछित भविष्य का एक और प्रारूप है। यह विकास के ऐसे क्रम को प्रस्तुत करता है जो आवश्यकता की ओर उन्मुख, देशज, स्वनिर्भर पर्यावरणीय दृष्टि से सन्तुलित तथा सरचनात्मक बदलाव पर आधारित है। इसका लक्ष्य देशी ढग स परिभाषित मानव-आवश्यकताओ की पूर्ति तथा मुख्य केन्द्र है वचित और शोषित वर्ग। यह समानता, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, प्रफुल्लता तथा सृजनात्मकता का महत्त्व स्वीकार करता है। प्रत्येक समाज अपने मूल्यो और

सस्कृतिया के अनुसार कार्य करने को स्वतन्त्र हो और वह स्वय भविष्य की अपनी दृष्टि को रचे। दरअसल कोई भी सार्वभामिक माडल आरोपित नही किया जाना चाहिए। प्रत्येक समाज अपना मॉडल स्वय बना सकता है। विकास के लिए एक समाज को अपनी अन्दरूनी ताकत पर अनिवार्यत निर्भर रहना पडेगा हालाँकि सामूहिक स्वनिर्भरता का महत्त्व नही नकारा जा सकता। इस मॉडल म जैविक परिमण्डल के सुचिन्तित उपयोग पर बल दिया गया है--उस बाध्य सीमाओ का आदर करना होगा और स्थानीय पर्यावरणीय व्यवस्था को सवदनशीलतापूर्वक महत्त्व देना होगा।

छाटे समुदाय से व्यापक मानव समुदाय तक सरचनात्मक बदलाववाली सहभागी निर्णय प्रक्रिया को विकसित करने की आवश्यकता है। आत्मानुशासन की क्षमता को भी दृढ करना होगा।

यह सब कैसे पाया जा सकेगा इसको स्पष्ट नही किया गया है परन्तु इस परिप्रेक्ष्य मे निहित विचार आदर और ध्यान के पात्र हैं। विचारो से शक्तिशाली और क्या है ? 'खुली अर्थ व्यवस्था' और 'बाजार के तर्क' की अन्ध स्वीकृति इन विचारा की उपेक्षा कर रही है।

# 5. सामाजिक विकास : मानवीय आवश्यकताएँ तथा जीवन की गुणवत्ता

आधुनिकीकरण और विकास पर चल रही इस समय की बहस का एक आनुषंगिक परिणाम शब्दो की एक छोटी मोटी क्रान्ति है। कुछ स्थापित शब्दो का उपयोग इस तरह होने लगता है कि उन्हे पहचानना कठिन हो जाता है, नये शब्द कभी तो प्रभाव के लिए गढे जाते हैं और कभी अर्थो की सूक्ष्मता के सम्प्रेषण के लिए। अधिक परम्परागत 'आर्थिक विकास' को 'सामाजिक विकास' के द्वारा प्रगतिशील प्रतिष्ठापन और इसे मानवीय आवश्यकताओ और जीवन की गुणवत्ता की अवधारणाओ से जोडना केवल फैशन मे बदलाव ही नहीं है यह प्रारूप मे बदलाव को भी व्यक्त करता है।

अपने प्रचलित अर्थ मे आरम्भिक समाज विज्ञानो के साहित्य मे सामाजिक विकास का उपयोग सामाजिक उद्विकास के लगभग पर्यायवाची के रूप मे किया गया था। मानव समाज के उद्विकास की प्रमुख सीढियो को व्यापक समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य मे पहचानकर सामाजिक विकास का खाका प्रस्तुत किया गया। इस उद्विकास के क्रम मे प्रमुख मील के पत्थर थे जगलीपन बर्बरता तथा सभ्यता। सभ्यता को पूर्व औद्योगिक और औद्योगिक भागो मे बाँटा गया जो सामाजिक विशेषताओ मे बदलाव और नयी सामाजिक रचनाओ के महत्त्वपूर्ण उद्गम को दर्शाती है। अनेक उद्विकासवादी लगभग सार्वभौमिक और अनिवार्य रूप से उपर्युक्त क्रम को मानते थे तथा प्रत्येक उत्तरवर्ती चरण का प्रगति का चरण मानते थे। समाज, सभ्यता के लक्ष्य की दिशा मे आगे बढता हुआ माना गया और देर सबेर उसे पाने की प्रत्याशा रखता था।

सामाजिक विकास की अवधारणा की साम्प्रतिक व्याख्याएँ उद्विकास की परिकल्पना से अलग हैं और मानवीय आवश्यकताओ की सन्तुष्टि तथा जीवन

की गुणवत्ता के सुधार के प्रश्ना पर केन्द्रित हैं। आर्थिक विकास क बदल 'सामाजिक विकास का सम्प्रत्यय अधिक व्यापक है आर आर्थिक विकास को भी अपन म समट हुए है। उसका उद्देश्य कुछ व्यापक सामाजिक लक्ष्या तथा आदर्शो का प्राप्त करना है पर न तो ये लक्ष्य और आदर्श और न ही सामाजिक विकास का सम्प्रत्यय ठीक ढग मे परिभाषित किया गया है। इस सम्प्रत्यय क आयाम विवादग्रस्त हैं। धीरे धीरे सामाजिक विकास तथा जीवन की गुणवत्ता क सूचका की एक रूपरखा सामने आ रही है।

यह देखा गया है और अच्छी तरह प्रमाणित भी है कि आर्थिक विकास निस्सन्देह आवश्यक हाते हुए भी हम कुछ अनचाह परिणामा की आर ले जाता है। इस कुछ खास सामाजिक लक्ष्या से जुड़ा हाना चाहिए। वृद्धि दर सकल राष्ट्रीय उत्पाद और प्रतिव्यक्ति आय के आँकडे प्राय भ्रामक हात हैं। इनका आडम्बर एक बहुत बडे समूह क वचन और निकृष्ट जीवन क कुरूप सत्य को ढक लता है। अत अब समय आ गया है कि सकल राष्ट्रीय उत्पाद क बदल हम जी एन डब्ल्यू (सकल राष्ट्रीय कल्याण) तथा सामाजिक विकास क बार म साचना शुरू कर।

इस नय लक्ष्य की अपक्षाएँ हैं

1 व्यक्ति की अपेक्षा बडे समुदाया जिसम बहुसख्यक गरीब भी सम्मिलित हैं पर बल देने की दिशा मे बदलाव

2 मानवीय आवश्यकताआ की पूर्ति आर जीवन की गुणवत्ता म सुधार के आधार पर सामाजिक लक्ष्या को पुन परिभाषित करना

3 आर्थिक और सास्कृतिक लक्ष्या क पारस्परिक सम्बन्धा का ध्यान म रखकर नियाजन और कार्यान्वयन की शलिया म परिवर्तन

4 नये सामाजिक लक्ष्या को पान क लिए पुन वितरण की सस्थागत सरचना का निर्माण और सगठनात्मक और मूल्य सम्बन्धी परिवर्तना का लान क लिए व्यापक युक्तियाँ विकसित करना जिसस पुन परिभाषित सामाजिक लक्ष्य शीघ्रता स पाय जा सक

5 सामाजिक प्रगति क मूल्याकन और जन्म ल रही नयी प्रवृत्तिया क आँकन के लिए सूचको का निर्माण

6 यह देखने के लिए कि वृद्धि क स्तर बनाय रखन याग्य हैं तथा बाह्य सीमाआ के बाहर तो नही हैं निगरानी की व्यवस्था का बनाना

7 वृद्धि से जुडी तथा अन्य समस्याआ का पूर्वानुमान और उनका तत्काल आर सक्षम ढग से हल करने की तत्परता तथा

8 वर्तमान सामाजिक सरचनाआ की उपयुक्तता तथा औचित्य क बार म प्रश्न और पुनर्विचार सम्भव बनान क लिए और उनकी पुन रचना की दिशा म

काम करने के लिए सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश का निर्माण।

इस उभरते हुए सम्प्रत्यय के तीन मुख्य पक्ष हैं, प्रतिमानात्मक, मूल्याकनात्मक तथा क्रियात्मक। हालाँकि ये तीनो ही परस्पर जुडे हुए हैं, हर एक की अपनी जटिलताएँ हैं। सामाजिक विकास के लक्ष्यो को पाने के लिए इन सब पर एक साथ ध्यान देना आवश्यक है।

यह पहले कहा जा चुका है कि केवल आर्थिक वृद्धि प्राय सामाजिक दृष्टि से अनुपयुक्त होती है। यही बात विश्व के कुछ अत्यन्त समृद्ध देशों मे भी स्पष्टत परिलक्षित होती है। बढी हुई राष्ट्रीय सम्पत्ति से जहाँ कुछ समस्याओ का समाधान होता है, वहीं वे कुछ अत्यन्त जटिल और विशाल पैमाने की नयी समस्याओ को भी पैदा करती हैं। असमानता का समाधान पाया जाना उनके लिए भी शेष है। जब तक आर्थिक और सामाजिक असमानता बनी हुई है और बढ रही है, यह नहीं कहा जा सकता कि विकास अपने एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य को प्राप्त कर चुका है।

अतिविकसित देशो मे विश्व के ससाधनो के प्रतिव्यक्ति उच्च उपभोग को देर सबेर कठिन सीमाओं का सामना करना होगा। विकासशील देश बराबरी की समृद्धि और उपभोक्ता के स्तर की माँग करेगे। सीमित प्राकृतिक ससाधनो के उच्च उपभोग मे कटौती इसलिए आवश्यक होगी कि ससाधनो के समाप्त होने के खतरो को तेजी से पहचाना जा रहा है। पर्यावरण-असन्तुलन और वायुमडल मे प्रदूषण के कारण विकास की गति मे कमी तथा अन्य चुनौतियो से निपटने के लिए नयी वैज्ञानिक और तकनीकी प्रतिक्रिया अपेक्षित होगी। ये और ऐसी ही अन्य समस्याएँ औद्योगिक समाज की कुछ गम्भीर आलोचनाओ को जन्म दे चुकी हैं।

विकासशील देश अभी भी बडे पैमाने पर गरीबी की काली छाया झेल रहे हैं। उनमे से कुछ थोडे से हिस्से ही विकसित देशो के उपभोग स्तर को पा सके हैं। गरीबी एक समस्या नहीं है, बल्कि परस्पर जुडी समस्याओ की एक शृखला है। विकास से जुडे प्रयासो के बावजूद सामान्यत विकसित और विकासशील देशो के बीच की खाई बढ रही है और वे इस बात से भयभीत हैं कि समय के साथ इसमे और भी वृद्धि होने की सम्भावना अधिक है। अभिजात वर्ग, जो समाज के निम्नवर्ग के लिए मार्गदर्शन और सन्दर्भ मॉडल का काम करता है, उच्च जीवन स्तर की अन्तर्राष्ट्रीय शैली का अनुसरण करता है या उसकी नकल की चेष्टा करता है। इस तरह गरीबी के बावजूद ये समाज प्रच्छन्न रूप से उपभोगवाद का मजा लेते हैं और उसे यथासम्भव बढाते हैं। यह विरूपित परिप्रेक्ष्य विकास के नियोजन मे असन्तुलित वरीयताओ को जन्म देता है। थोडे से लोगों के लिए व्यक्तिगत उपभोग बहुतो के लिए सामाजिक सेवा मे निवेश के ऊपर प्राय हावी हो जाता है। व्यक्तियों के स्वामित्ववाली और सुखदायक या उपभोगी कारो का

उत्पादन करने से जन परिवहनवाली बसो के उत्पादन को कम महत्त्व मिल पाता है। आम आदमी के लिए आवास की योजनाओ के ऊपर बडे और आरामदेह घरो की योजना हावी हो जाती है। दूरदर्शन चाहे वह जनशिक्षा के लिए ही क्यो न शुरू हुआ हो अपनी अधिक कीमत के कारण हैसियत का प्रतीक बन जाता है और इसके मूल लक्ष्य से जनता वचित रह जाती है। ऊँची प्रतिष्ठावाले अस्पताल समृद्ध और प्रभावशाली लोगो के लिए सुरक्षित रहते हैं। औकात के अन्तर को बनाने के नये से नये तरीके खोजे जाते हैं। उपभोग का एक कृत्रिम ससार फूलता फलता है और इस प्रक्रिया मे आम जनता को चकाचौंध रखता है।

तीसरी दुनिया एक मृगमरीचिका के पीछे दौड रही है। विकास की उपलब्धियो मे असफलता से कुठा और आक्रोश पैदा हुआ और तत्काल समाधान देनेवाले और कभी भी असफल न होनेवाले लुभावने तरीके बतानेवालो को अस्थायी रूप से मसीहा माना जाने लगा है। परन्तु सम्पन्नता अभी भी चकमा दे रही है और वितरण की त्रासदी गहराती जा रही है। कहने की आवश्यकता नही कि समृद्ध समाजो मे सार्थक मॉडल के अभाव मे बिना विचारे किसी एक की नकल करने से सामाजिक अन्याय बढता है। समाजवाद की रट लगाने के बावजूद ये समाज और भी अधिक असमानतावादी होते जा रहे हैं। कुछ देशो जैसे चीन और क्यूबा ने प्रलोभन को सफलतापूर्वक रोका है कुछ औरो ने भी कोशिश की और असफल हो गये बहुतो ने इसकी आशा व्यक्त करने से अधिक कुछ भी नही किया।

समृद्ध और विपन्न दोनो तरह के समाजो मे मूल्यो के मूलभूत परिवर्तन एक सस्थागत क्रान्ति के रूप मे आवश्यक हैं। दोनो प्रकार के समाजो के सामने खडी समस्याओ के आयाम अलग हैं वे उसी तरह रहेगे भी और दोनो को अपनी-अपनी समस्याओ के समाधान के अलग-अलग रास्ते चुनने होगे। दोनो को ही अपने सामाजिक लक्ष्यो को फिर से परिभाषित करना होगा और अपने को स्वय सीमित करनेवाले विकल्पो को चुनना होगा जो उनके पर्यावरण की आवश्यकताओ और सास्कृतिक पृष्ठभूमि द्वारा प्रतिपादित होगे।

पिछले तीन दशको मे तीसरी दुनिया के अपेक्षाकृत अनुत्पादी विकास कार्य के अनुभव स नियोजन के सामाजिक लक्ष्यो और कार्यान्वयन की तरकीबो के बारे मे गम्भीर रूप से पुनर्विचार जरूरी हो गया है। उपागम मे कुछ प्रमुख बदलाव इस प्रकार हैं 1 व्यक्ति उन्मुख मूल्यो से समाजोन्मुख मूल्यो की दिशा मे 2 वर्तमान/भविष्य उन्मुखता की ओर 3 उच्च उपभोगिता से अपेक्षाकृत सीमित उपभोगिता तथा 4 वस्तुओ से सेवाओ की ओर।

अति उपभोग के उत्पादनविरोधी तथा अनुपयागी पक्ष अत्यन्त स्पष्ट हैं। किसी अन्यायी वितरण व्यवस्था के विरुद्ध बढता हुआ मोहभग व्यवस्था के

अन्तर्गत आमूलचूल परिष्कार को अपरिहार्य बना देगा। किसी भी हाल में तीसरी दुनिया का आदर्श अपेक्षाकृत कम उपभोग की प्रवृत्ति ही होगी। यदि इस तरह का वातावरण बने तो हम वस्तुओ के स्थान पर सेवाओ पर तथा व्यक्तिगत उपभोग के स्थान पर सामूहिक कल्याण पर बल देने लगेगे। अपनी जरूरतो पर अत्यधिक ध्यान देने के स्थान पर व्यक्ति व्यक्ति की आवश्यकताएँ व्यापक समाज की आवश्यकताओ मे विलीन हो जाएँगी। एक नयी सामाजिक चेतना, एक आम और व्यवस्थित जीवन शैली पर बल देगी जो न्याय, समानता पर आधारित और पूर्वाग्रहमुक्त होगी। तात्कालिक लक्ष्यो पर अपना ध्यान अधिक केन्द्रित रखना दीर्घकालिक दृष्टि से घातक प्रभाववाला हो सकता है। इसलिए समयबद्ध कार्यक्रमो को अभीष्ट भविष्य की रूपरेखा से जोड़ना आवश्यक होगा। इसके लिए इस पर विचार करना जरूरी होगा कि मानव समुदाय को सम्भव बनाने के लिए क्या आवश्यक है, हमे भविष्य की आवश्यकताओ की प्रत्याशा, द्वन्द्व के समाधान की व्यवस्था, आम सहमति का निर्माण और समस्या समाधान के उपाय पर सोचना होगा।

सामाजिक विकास और परिवर्तन की प्रवृत्तियो के मूल्याकन के लिए एक उपयुक्त और मानक प्रतिमान निर्माण के लिए आवश्यक कदम होगे साम्प्रतिक सामाजिक स्थिति का सन्तुलित और विश्वसनीय आकलन, प्रमुख समस्या क्षेत्रो की गहराई के साथ जाँच तथा सम्भावित प्रवृत्तियो का वैज्ञानिक पूर्वानुमान। यह सामाजिक सूचको की एक शृखला बनाकर ही सम्भव हो सकेगा। प्रमुख नीतिक्षेत्रो मे विकास का परिमाणात्मक मापन–विषमता का वितरण और विस्तार (विशेषत *भोजन और आवास में) शिक्षा, लोकस्वास्थ्य, सार्वजनिक सुरक्षा और विचलन,* जनसख्या वृद्धि आदि–अपेक्षाकृत सरल है, लेकिन इनके गुणात्मक आयाम को सँभालना कठिन है। निवेश और उत्पाद का गुणात्मक आकलन कैसे होगा ? निवेश की वरीयताएँ और मात्राएँ क्या होगी ? क्या गरीबी के समापन का अर्थ केवल आय मे वृद्धि है ? या हमे यह भी निश्चित करना होगा कि बढ़ी हुई आय का वाछित ढग से उपयोग कैसे किया जाए ? क्या उच्च साक्षरता दर और शिक्षा की ऊँची डिग्री पानेवाले लोगो की सख्या मे वृद्धि सामाजिक विकास का पर्याप्त सूचक है ? या हमे शिक्षा के गुणात्मक पक्षो को भी जाँचना होगा ? ऐसे प्रश्न नीति के प्रत्येक प्रमुख क्षेत्र मे उपस्थित होते हैं। सोचे गये सामाजिक लक्ष्यो का पाना जैसे अपेक्षाकृत कम उपभोग का वातावरण, सामाजिक ससक्ति और एकता, अभौतिक या मनोवैज्ञानिक पुरस्कारो के माध्यम से सन्तुष्टि और उत्कृष्टता की आकाक्षाओ का मापन और भी कठिन होगा। सरल मात्रात्मक सूचक सीमित उपयोगिता और वैधतावाले तरीके होगे। उनके भविष्यकथन और समस्या समाधान की क्षमता को बढाने के लिए ऐसी प्रविधि की आवश्यकता होगी जो गुणवत्ता

को मात्रा मे बदल सके और यह कुछ मूल्यगत स्वीकृतियो के बिना सम्भव न होगा।

अत सामाजिक विकास का सार्थक कार्यक्रम विश्वसनीय सामाजिक सूचको की शृखला की आवश्यकता रखता है। समाज की साम्प्रतिक स्थिति के ठीक ठीक रेखाकन के लिए बदलाव की प्रकृति को पहचानने के लिए बाधा डालनेवाली समस्याओ और त्रासदी के पूर्वानुमान के लिए तथा नीति के निर्देश के सुझाव दे सकने के लिए युक्तियो मे बदलाव की आवश्यक्ता होगी।

आवश्यकता इस बात की है कि समाज के सज्ञानात्मक परिप्रेक्ष्य और मूल्याकन के दृष्टिकोण मे बदलाव हो। दूसरे शब्दा म चीजो को देखने समझने तथा सुखदायी क्या है इसका निर्धारण करने और सही क्या है इसका निर्णय लेने के आधारो म क्रातिक परिवर्तन की आवश्यकता है। पिछले विवेचन मे वाछित सज्ञानात्मक परिप्रेक्ष्य अतर्निहित है अत यदि प्रतिमान सरचना मे सार्थक परिवर्तन आवश्यक है तो मूल्याकनपरक परिवर्तन भी जरूरी होगा। नये परिवेश मे खास बात यह होगी कि समाज की समृद्धि करने मे चाहे अपनी इच्छा की पूर्ति को रोकना ही क्यो न पडे आनन्द की अनुभूति होगी और तृप्ति मिलेगी। सफलता का पैमाना-व्यक्ति अपने लिए क्या कर सका है या अपने परिवार के लिए क्या कर सका है के बदले-यह होगा कि वह अपने समुदाय और समाज के लिए अपनी योग्यता और कौशल से क्या कर सका है। सामाजिक कार्य और व्यक्ति की सफलता के मूल्याकन का आधार उनकी सामाजिक प्रासगिकता और समाज-कल्याण के लिए योगदान होगा। स्वाभाविक रूप से व्यक्तिगत उपभोग को जो औचित्य की सीमा का अतिक्रमण कर रहा हो हय दृष्टि से देखा जाएगा और व्यापक समाज क लिए जा अच्छा हो वह व्यवहार स्वीकृत और अनुमोदित होगा।

वर्तमान व्यवस्था विश्व के अधिकाश भागा मे व्यक्तिगत सतुष्टि और निजी उपयोग की ओर झुकी हुई है इसलिए ऊपर के रेखाकित बदलाव को कार्य रूप म लाना कठिन तो है पर असम्भव नहीं। विश्व क सभी महान् धर्म और प्रमुख दार्शनिक विचारधाराएँ व्यक्ति उन्मुख और अन्य उन्मुख प्रवृत्तियो के सन्तुलन और समन्वय पर बल देती हैं तथा अधिकाश अन्योन्मुख प्रवृत्तियो को अच्छा घोषित करती है। मानव इतिहास मे ऐसे अनुभव भरे पडे हैं जिनमे आत्मतुष्टि का समाज कल्याण के लिए बलिदान किया गया है और इस विकल्प को स्वार्थपूर्ति की अपेक्षा अधिक सामाजिक सम्मान और सराहना मिली है। हमारे अपने ही जीवनकाल मे कुछ समाजो ने बडे साहसिक ढग से-राजनीतिकरण और सक्रियकरण के माध्यम से-ऐसे बदलाव की दिशा म कोशिश की है और उनके प्रयास असफल भी नही *हुए हैं। यदि नयी सामाजिक व्यवस्था लानी है तो धैर्य और सतत कार्य करने* के गुणो को भी विकसित करना होगा। इतना महत्त्वपूर्ण परिवर्तन एक दिन या

एक दशक मे नहीं आ सकेगा। आवश्यकता है यात्रा आरम्भ करने की। जे एफ एक्स पैवा (अप्रकाशित आलेख) के अनुसार सामाजिक विकास के "दो परस्पर सम्बद्ध आयाम हैं–पहला है, लोगो मे अपने और समाज के कल्याण के लिए निरन्तर काम करने की क्षमता का विकास, दूसरा है, समाज की सस्थाओ मे बदलाव या विकास, जिसके सभी स्तरो पर, विशेषत निचले स्तर पर, मानवीय आवश्यकताओ की सन्तुष्टि। यह व्यक्तियो और सामाजिक-आर्थिक सस्थाओ के बीच के सम्बन्धो के सुधार और इस पहचान के द्वारा सम्भव होता है कि मानवीय आवश्यकताओ की अभिव्यक्ति और उन्हे पाने के तरीके मनुष्य और प्रकृति की शक्तियो के बीच सतत अन्त क्रिया पर निर्भर हैं।

वह यह भी कहते हैं कि "इस प्रक्रिया मे सामाजिक सस्थाओ मे परिवर्तन और उपलब्ध ससाधनो के उपयोग मे परिवर्तन द्वारा परिमाणात्मक और गुणात्मक ढग से आवश्यकताओ की सन्तुष्टि मे सन्तुलन प्राप्त किया जाता है। अत सामाजिक विकास का एक मुख्य सरोकार सामाजिक न्याय और विकास के लाभो का समान वितरण है। सामाजिक विकास का लक्ष्य अन्ततोगत्वा एक अधिक मानवतावादी समाज की प्राप्ति है, जिसकी सस्थाएँ और सगठन मानवीय आवश्यकताओ के प्रति अधिक उपयुक्त ढग से प्रतिक्रिया करे।"

आवश्यकता इस बात पर बल देने की है कि समाज एक विकसित और प्रभावशील ढग से कार्यरत ऐसी स्वत नियमित करनेवाली प्रक्रिया विकसित करे जिससे व्यक्तिगत लोभ और स्वार्थ पर रोक लग सके और प्रलोभन और प्रेरणाएँ ऐसी न हो कि सामाजिक परोपजीविता बढे। सामाजिक विकास की अवधारणा का निश्चित रूप से यह अर्थ नही है कि व्यक्तियो को भावहीन स्वचालित यन्त्र और आत्मविहीन रोबोट बना दिया जाए। उन्हे अपने विचारो को व्यक्त करने की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए और उन्हे समाज मे निर्णय लेने की प्रक्रिया का अग भी होना चाहिए। यहाँ इस बात पर बल दिया जा रहा है कि व्यक्ति की चिन्तन प्रक्रिया और जीवन शैली मे सामाजिक कल्याण को प्रमुखता मिलेगी और व्यक्ति के स्तर पर सन्तुष्टि सामाजिक माध्यमो से होगी।

**मानवीय आवश्यकताएँ–एक मूल्यदृष्टि :** मानवीय आवश्यकताओ के मॉडल के निर्माण मे मानव प्राणी के विशिष्ट स्वभाव को ध्यान मे रखना होगा। मानवता जीवन के निम्न स्तरो से क्रमश विकसित होते हुए बढी है। साम्प्रतिक मानव-जीवन मे उद्विकास के दाय का बहुत प्रभाव है। हमारी बहुत सारी पशुवत् इच्छाएँ हैं, परन्तु उनकी पूर्ति सास्कृतिक तरीको से की जा सकती है। पोषक आहार, यौन इच्छाओ की तृप्ति और सन्तति को जन्म देना, सन्तान की देखभाल और पालन पोषण, आवास और भौतिक सुरक्षा के अन्य माध्यम–जो सभी मूल आवश्यकताएँ हैं– ऐसे लक्ष्य हैं जो अन्य प्राणियो मे भी मिलते हैं। यहीं पर समानता

समाप्त हो जाती है। हम पकाया हुआ भोजन करते हैं और खाने की हमारी पसन्द लाखो विभिन्न प्रकार की शैलियो मे प्रतिफलित होती हैं। एक समाज मे जो स्वीकृत भोजन है वह दूसरे मे अस्वीकृत हो सकता है। कुछ सामाजिक समूह सुअर के मास को अखाद्य मानते हैं और कुछ गौ मास को कुछ सभी पशुआ के मास को। अन्य सस्कृतिया मे कुत्ता खाद्य है ओर बहुतो म नहीं। पोषण के कुछ रूप आवश्यक हैं और ठीक और सन्तुलित मात्रा मे होने ही चाहिए। यौन इच्छा की स तुष्टि पाशविक लक्ष्य है परन्तु मनुष्यो मे रक्त सम्बन्धो मे ऐसा करने पर बन्धन है ओर अन्तर्गोत्रीय और बहिर्गोत्रीय यौन सम्ब ध स्थापित करने के जटिल नियम हैं। इसके अनुसार विवाह कहाँ होना चाहिए कहाँ नही इस पर प्रतिब ध है। प्रसवपूर्व की अवधि मनुष्यो के लिए बहुत लम्बी होती हे और मादा इस अवधि मे बहुत ही असुरक्षित रहती है। यह स्थिति सास्कृतिक विकास के कारण और भी बढ़ गयी है। इसलिए मानव सामाजिक सगठनो के सम्मुख अपेक्षाकृत स्थायी घरबार बनाने की आवश्यकता उपस्थित करते हैं। मानव शिशु भी बडा ही परनिर्भर और असहाय होता है। उसमे शारीरिक और मानसिक परिपक्वता दीर्घ अवधि म आ पाती है। इस अवधि मे भौतिक और सामाजिक सहायता मानवीय दायित्वो और सगठन के रूपो पर विशेष प्रभाव डालती है। केवल शारीरिक जीवन के लिए ही व्यवस्था नही करनी होती अपितु मनोवैज्ञानिक और सामाजिक समर्थन भी वाछित होता है। मनुष्य क रूप मे जन्म लेना ही मनुष्य बनने के लिए पर्याप्त नहीं है। मनुष्य होने के लिए शिक्षा और समाजीकरण की एक लम्बी प्रक्रिया से गुजरना पडता है।

मनुष्यो के बारे मे सोचते समय हमे केवल आधारभूत आवश्यकताओ की ही चर्चा नही करनी चाहिए। मानव जीवन का सोन्दर्यात्मिक पक्ष भी महत्त्वपूर्ण है। प्रागैतिहासिक मानव भी नृत्य ओर सगीत मे स तुष्टि का अनुभव करते थ। व अपने पीछे महत्त्वपूर्ण गुफाचित्र छाड गये हैं। इनमे मे बहुत से तात्कालिक वातावरण से बाहर की चीजो का चित्रण करते हें और बिम्बो तथा सृजनात्मकता के स्वतन्त्र उपयोग का सकेत देते हैं। दिन प्रतिदिन के काम मे आनवाली विभिन्न वस्तुएँ सौन्दर्य और उपयोग दोनो ही विशेषताएँ रखती थी। आरम्भिक हस्तकला के शिल्पी आकार रग और सरूप के प्रति सवेदनशील थे। चित्र और प्रतिमाएँ जा काफी पुरानी हैं सौन्दर्य और सृजन की उत्कट इच्छा का प्रमाण देती हैं। मानवीय आवश्यकताओ की अवधारणा पर विचार करते हुए इस आयाम को ध्यान मे रखना होगा। प्राणियो मे केवल मनुष्य ही प्रार्थना करते हैं। इससे भी जीवन को एक विशेष आयाम मिलता है जो मनुष्य की किसी न किसी प्रकार की आध्यात्मिक आवश्यकता को अनिवार्य बना देता है। सक्षेप मे हम बहुत सारे तत्त्वो को विचार के केन्द्र मे रखना होगा जो मनुष्य के जीवन को गढने म सहायक होते हैं।

हम एक अन्य तत्त्व को भी ध्यान मे रखना होगा। हम लोग सोचते हैं कि हम सृजन और नवाचार कर सकते हैं, हम विचार और अपनी कृति दूसरा तक पहुँचा सकते हैं और दूसरे लाग इन्हे ग्रहण कर इनसे सीखत हैं। सभी प्राणियों मे मनुष्य ही सबसे अधिक सीखने की क्षमता रखता है। सृजन और सीखना दोना ही हमारे जैव मनोवैज्ञानिक स्वभाव म निहित धनात्मक प्रतिक्रिया की आकाक्षा क तत्त्व द्वारा समर्थित हात हैं। हम स्वीकृति, प्यार और पहचान की आवश्यकता हाती है। सृजनात्मकता तथा शीघ्र सीखने की क्षमता से हम इन्हे पा सकते हैं। *मानव जीवन म परम्परा को महत्त्वपूर्ण अवयव मानते हुए भी हमे सृजनात्मकता* और नवाचार स जुड मूल्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए (हालाँकि कुछ विशेष परिस्थितिया मे इनके साथ दड भी जुडे होते हैं)। हम लोग सस्कृति का निर्माण करनवाले प्राणी हैं। सस्कृति एक अत्यन्त उत्कृष्ट अनुकूलनपरक और समस्या का समाधान करनेवाला उपकरण है। इसने जीवन को एक ही साथ सरल और अत्यन्त जटिल बना दिया है। मानवीय आवश्यकताएँ एक पदानुक्रम मे अवस्थित हैं और उनकी पूर्ति के तरीके भी ऐसे ही अनुक्रम मे व्यवस्थित हैं। अत हम मानवीय आवश्यकताओं का आधारभूत प्राणिशास्त्रीय माँगो की सन्तुष्टि तक ही सीमित नही मान सकते। अन्य स्तरा और अन्य रूपो म भी उनकी पूर्ति समान रूप से *आवश्यक है। मानवीय आवश्यकताओं का सकुचित रूप से परिभाषित नहीं किया* जा सकता। ये अनिवार्य रूप से बदलती रहती हैं, और जाहिर है, दो या तीन पीढ़िया म मनुष्य का मूल आवश्यकताओं का प्रत्यक्षीकरण भी आधारभूत रूप से बदल जाता है।

*यह एक विलक्षण विरोधाभास है कि दो तिहाई मानवता अभी भी आधारभूत* आवश्यकताओं के मूल अवयवा की सन्तुष्टि के लिए भी सघर्ष कर रही है। अत न्यूनतम आवश्यकताओं की सन्तुष्टि को उच्च वरीयता मिलनी चाहिए। इस बिन्दु स समाजा को आवश्यकताओं क अन्य रूपा और स्तरा की सन्तुष्टि की दिशा म आगे बढ़ना चाहिए। ये आवश्यकताएँ सस्कृतिजन्य और परिभाषित हैं और इस तरह अपरिवर्तनीय नहीं हैं। उनम समाज-उन्मुखता और जीवन का धारण करने की गुणवत्ता आरोपित करने के लिए सायास परिवर्तन सम्भव है।

जीवन की गुणवत्ता मानव की आवश्यकता सरचना को नयी दृष्टि से सोचने और उसके लिए उपयुक्त व्यवस्था करने पर निर्भर होगी। आवश्यकताओं की ऐसी सूची देना कठिन है जो भिन्न भिन्न सास्कृतिक माँगा और आकाक्षाओं को ठीक तरह से व्यक्त कर सके।

विगत वर्षों मे मानवीय आवश्यकताओं की नयी अवधारणाएँ—मौलिक आवश्यकताएँ, न्यूनतम आवश्यकताएँ इत्यादि—प्रस्तुत हुई हैं। इनम काफी समानता है फिर भी ये अपने स्वरूप और जटिलता मे भिन्न हैं। इन सभी अवधारणाओ

म एव ममानता है कि वे मानवीय आवश्यकताओ की सरचना का बुद्धिजीवियो द्वारा निरूपण है वे सस्कृतिविशिष्ट नही है और विशिष्ट समाजो या समुदायो की आवश्यकताओ को व्यक्त नही करती। वैसे भी एक मॉडल सोचने के लिए उपकरण ही है और यह आवश्यक नही है कि वह वास्तविकता के बिल्कुल निकट हो। यहा पर यही पर्याप्त होगा कि मानवीय आवश्यकताओ के बारे मे अमूर्त स्तर पर सहमति उत्पन्न हो सके।

किसी भी स्थिति म आवश्यकता सरचना म निम्नाकित अवश्य विद्यमान होगे

1 जीवनयापन की आवश्यकताएँ–जिनम पोषाहार आवास वस्त्र उपयुक्त जीविका बीमारी की रोकथाम और उपचार की औषधियो और जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा सम्मिलित है

2 समाजस्तरीय आवश्यकताएँ–जिनमे समुदायो के निर्माण की क्षमता समुदाय भावना और सामाजिक एकता मे वृद्धि द्वन्द्व के प्रभावशाली समाधान और सहमति के निर्माण के उपाय तथा सामाजिक शासन के मानको का विकास सलग्न है

3 सास्कृतिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताए–जिनके अन्तर्गत निजी स्वतन्त्रता और वैयक्तिकता की व्यवस्था अवकाश और रचनात्मक ढग स उसके उपयोग का अवसर और उन्नति तथा सर्वतोमुखी विकास का समान अवसर सलग्न है

4 कल्याण की आवश्यकताएँ–जिनम दुर्बलवर्ग विकलाग और असहाय लोगो की सहायता के लिए उपाय सम्मिलित हैं

5 अनुकूलन की आवश्यकताए–जिनम सामाजिक सास्कृतिक मनोवैज्ञानिक और भौतिक वातावरण की पडताल के अवसरो के तरीको और उनम आनेवाले बदलाव के कारण वाछित परिवर्तनो को लाने के उपाय सम्मिलित हैं

6 प्रगति की आवश्यकताए–जिनम समस्याओ के पूर्वानुमान और उनके समाधान की क्षमताओ को बढाना वैज्ञानिक तथा तकनीकी शोध मे वृद्धि और मानव यान्त्रिकी के कौशलो का विकास सम्मिलित हैं।

जीवन रक्षक आवश्यकताओ के लिए वितरण के मूल्य मे आधारभूत परिवर्तन तथा प्रचलित पुरस्कार व्यवस्था म बदलाव आवश्यक है। इसके लिए यह भी आवश्यक होगा कि एक सीमा मे अधिक व्यक्तिगत उपभोग पर रोक लगे और सामाजिक सेवाओ का विस्तार हो। सामाजिक आवश्यकताओ मे सामाजिक चेतना का विस्तार प्रस्थितियो और भूमिकाओ की पुन रचना तथा सहयोग सहमति और अनुशासन पर बल देनेवाली विचारपूर्ण और दृढ मानव यान्त्रिकी का विकास सलग्न है। कल्याण की आवश्यकताएँ दुर्बल और कमजोर वर्गो को सुरक्षा देने से जुडी हैं। इनकी रूपरेखा निश्चित करने म इस बात का ध्यान रखना होगा कि अप्रत्यक्ष रूप से समाज मे कोई परोपजीवी वर्ग तो विकसित नही हो रहा है। सास्कृतिक

और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ एक कठिन और अस्पष्ट क्षेत्र को रेखांकित करती हैं। इनकी ओर उन्मुख कार्यक्रमो को केवल भौतिक लाभो को महत्त्व न देनेवाले किन्तु वैकल्पिक पुरस्कार सरचना को खोज पाने मे उनकी सफलता के आधार पर *जाँचना चाहिए। प्रमुख रूप से समाज की ओर उन्मुख मूल्य व्यवस्था मे भी* यह निश्चित करना होगा कि व्यक्ति को पर्याप्त मात्रा मे स्वायत्तता मिले वह आत्मगौरव की रक्षा कर सके और अपने आपको अभिव्यक्त कर सतुष्टि पा सके। अवकाश एक आवश्यकता है परन्तु इसे समाज विरोधी लक्ष्यो की दिशा मे भी प्रयुक्त किया जा सकता है। अत इसके सृजनात्मक तथा उत्पादक उपयोग की दिशा मे आगे बढना आवश्यक होगा। इन उपायो को भिन्न भिन्न और व्यापक विस्तारवाली रुचियो को अवसर देना होगा। अनुकूलनपरक और प्रगति की आवश्यकताओ की तीन प्रकार की माँगे हैं—परिवेश के देखभाल का कौशल भविष्य मे उत्पन्न होनेवाली समस्याओ को जानने की दृष्टि तथा वैज्ञानिक तकनीकी और व्यवहारपरक शोध द्वारा नवाचार की क्षमता से उनका समाधान पाने की क्षमता। एक प्राय समस्याविहीन समाज के निर्माण के लिए इन पर ध्यान देना आवश्यक है।

सामाजिक विकास को सम्भव बनानेवाली जीवन की नयी शैली को कई कठिनाइयो का सामना करना पड सकता है। निहित स्वार्थ नयी वितरण व्यवस्थावाली सस्थागत सरचना के उद्भव का जो चर्चित जीवनधारा के कार्यान्वयन की शर्त है विरोध करेगे। इस योजना मे निहित मूल्यो का त्याग मूल्यो का अर्जन मूल्यो को नये लक्ष्यो की ओर उन्मुख करना तथा मूल्यो का कार्यान्वयन सरल नहीं होगा स्थापित मूल्य सरचनाएँ सिर उठाएँगी और बराबर अपने आपको स्थापित करने का प्रयत्न करेगी कभी कभी अप्रत्याशित मोडो पर। प्राचीन परम्पराओ तथा निरन्तरता की दीर्घ कडीवाले समाजो मे विज्ञान तथा तकनीक के प्रत्येक दुरुपयोग की स्थिति मे और सामाजिक परिवर्तन के प्रबन्धन मे हर विफलता के साथ पुरातन प्रवृत्तियो के पनपने की सम्भावना बनी रहती है। पीढी दर पीढी विकसित पूर्वाग्रह नये औचित्य और उत्साही प्रवर्तक पा जाएँगे। मानवीय लक्ष्यो तथा विस्फोटक तनावो को वितरित करनेवाले तरीके के बारे मे अन्तर्राष्ट्रीय सहमति के अभाव मे प्रचलित अव्यवस्था से स्वस्थ समस्थिति तक पहुँचने के मार्ग मे जो अभीष्ट जीवन की नयी शैली मे अन्तर्निहित है गम्भीर चुनौती आयेगी।

कठिनाइयाँ चाहे कितनी भी बडी क्यो न हो ऐसी नहीं हैं कि उनसे पार न पाया जा सके। सभी मानव समाज यथार्थ के साथ समायोजन करते हैं। जो अवश्यम्भावी है उसे स्वीकार करना ही होगा अनिवार्य अनुकूलन करने ही होगे। विसगतियो और अन्तर्विरोधो से भरे काल मे—एक ऐसे समय मे जब आकाक्षा और उपलब्धि के बीच की खाई बढती जा रही है स्थापित व्यवस्था के साथ

जहाँ मोहभग बढता जा रहा है और जो टूटने के हर चिह्न को दिखा रहा है, और जब ऐसा बिन्दु आ गया है कि जनसख्या का एक बहुत बडा हस्सा बेकाबू होता जा रहा है–वास्तविकता के साथ समायोजन अब सामान्य रूप से सम्भव ही नहीं है। भविष्य की भयावह स्थिति से बचने के लिए समय की त्रासदी के प्रति नवाचार की साहसिक प्रक्रियाओ को सक्रिय करना होगा। अतीत मे मानवता ने छोटे पैमाने पर ऐसा कई बार किया है।

आज की समस्याएँ अपरिमित रूप से बडी और अधिक जटिल हैं। व्यापक सस्थागत तथा मूल्यात्मक परिवर्तन अपेक्षित हैं। केवल उद्देश्यपूर्ण विचार और समाधानपरक सामाजिक कार्य ही इस कठिन परिस्थिति से उबार सकते हैं। यदि आज की त्रासदी के प्रच्छन्न और व्यक्त आयामो की व्याख्या करने का सम्भव और उपयुक्त विकल्प सम्मुख रखा जाए तो समाज की प्रतिक्रिया धनात्मक होगी। इस दिशा मे हमारे प्रयास मे आज के सामाजिक यथार्थ की चुनौतियो के प्रति एक सृजनात्मक प्रतिक्रिया होनी चाहिए। समता और सामाजिक न्याय असम्भव आदर्श नही हैं, सस्थागत क्रान्ति और मूल्यो मे बदलाव के माध्यम से अपने भविष्य की पुनर्रचना सम्भावना की सीमा मे हैं।

**जीवन की गुणवत्ता** 'जीवन की गुणवत्ता' के सम्प्रत्यात्मक मॉडल विकास सबधी नयी सोच से जुडा अपेक्षाकृत एक नया उपक्रम है, परन्तु एक अच्छे या सन्तोषदायी जीवन के अन्तर्गत क्या निहित है, यह तब से विचार का विषय बना हुआ है जब से मानवता ने सस्कृतियो का विकास किया और अपने परिप्रेक्ष्य म मूल्यो के एक पैमाने के अनुसार आचरण करना शुरू किया। छोटे आकार के तथा अपेक्षाकृत अविभेदित समुदायो–एसे समुदायो जिन्हे आदिम जनजाति कहा जाता है–के मानववैज्ञानिक अध्ययना से यह पता चलता है कि मानव समूहो ने प्रकृति समाज और अतिप्राकृलिक के साथ किन विभिन्न तरीको से सम्बन्ध स्थापित करना सीखा है। वे अपने चतुर्दिक् यथार्थ के समन्वय और व्याख्या करने की कोशिश करते हैं, चाहे उनकी समझ का एक हिस्सा मिथक, गाथाओ और जादू और अतिप्राकृतिक विश्वासो पर ही क्या न आधारित हो। ज्ञान की अनुपयुक्तता और भौतिक, सामाजिक और सास्कृतिक परिवेश की उनकी समझ के अवैज्ञानिक होने पर भी ये सस्कृतियॉ स्थायी सिद्ध हुई हैं। शक्तिशाली सभ्यताएँ पनपीं और कालकवलित हो गयी, पर जनजातीय सस्कृतियाँ बनी रही। अच्छाई, सन्तोषदायी और वाछित जीवन शैलियाँ प्रतिमान सरचनाओ मूल्यो और सास्कृतिक स्थापनाओ की रूपरेखा मे छिपी होती हैं। बडी बडी सभ्यताओवाले समाज–छोटे तथा बडे–इनके बारे मे अधिक स्पष्ट थे। उनकी प्रतिमानकीय सरचना वाछित और *श्रेयस्कर को अधिक स्पष्ट रूप से परिभाषित करती है, हालाँकि उनमे से प्रत्येक* की सहनशीलता की सीमा निर्धारित होती है और लक्ष्य को परिभाषित करने और

लक्ष्य की प्राप्ति में भिन्नता को अवसर दिया जाता है। कई समस्याएँ व्यक्ति प्रकृति और समाज के बीच सन्तुलन और सामजस्य को स्थापित करने म सफल रहीं कुछ समस्याओ ने जीवन की उच्च गुणवत्ता की खोज म ऐसी स्थितियो को जन्म दिया जो अततोगत्वा उनके विघटन और ह्रास का कारण बनीं। जिसकी इच्छा होती है और जो इच्छा करने योग्य है दोनो के बीच सदा स कुछ दूरी रही है और सभी सामाजिक व्यवस्थाएँ इस खाई को भरने की चेष्टा करती रही हैं। इनमे कुछ सफल हुईं अन्य असफल हो गयीं।

पश्चिमी विचारों और आदर्शों क प्रसार न भौतिकवाद पर अत्यधिक बल दिया है। यह कथन 'भौतिकवादी पश्चिम' या आध्यात्मिक पूर्व' की रूढि का पोषक नहीं है। हम पश्चिमी सभ्यता के आध्यात्मिक आयाम को भी पहचानना होगा। जब तक भौतिकतावाद को उचित सीमाओ क अन्दर रखा जाता है वह स्वाभाविक और आवश्यक भी है। वस्तुत किसी भी महान् धर्म ने भौतिकतावादी आयाम की उपेक्षा नहीं की है। कठिनाई तब पैदा होती है जब सम्पत्ति का सुख क बराबर मान लिया जाता है उपभोग को सन्तुष्टि का मुख्य सूचक माना जाता है और जब अकादमिक सवाद म ऐसी बातो का औचित्य सिद्ध किया जाने लगता है। यह सही है कि मूल्यो के औपचारिक विवेचन म आत्म-अस्वीकृति त्याग और दूसरो को महत्त्व देनेवाली इच्छाओ को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है और गहरी त्रासदी के समय मे समाज सामान्यत इन अपेक्षित मूल्यो के अनुरूप व्यवहार करते हैं और खुशी खुशी बडी बडी कठिनाइयो और कष्टो को झेल जाते हैं। फिर भी उपयोगितावाद के प्रचलित दर्शन म आत्मतुष्टि क महत्त्व पर जोर दिया है और इस प्रक्रिया म व्यापक समाज म प्रत्येक व्यक्ति क दायित्वो के महत्त्व को प्राय ध्वस्त कर दिया है। जीवन की गुणवत्ता की कोई भी चर्चा तभी सार्थक होगी जब उसमे निजी (व्यक्तिगत) और सामाजिक आवश्यकताओ दोनो की सन्तुष्टि क प्रश्न पर साथ साथ विचार किया जाए। व्यक्तिगत सन्तुष्टि पर अत्यधिक जोर देने से सामाजिक व्यवस्था चरमरा जाएगी और समाज म असन्तुलन पैदा होगा जिसे सँभालना कठिन होगा।

जीवन की गुणवत्ता की कोई सार्वभौमिक रूप से स्वीकृत परिभाषा प्रस्तुत करना या इसके मापन या मूल्याकन क लिए सूचको का निर्माण कठिन है क्योकि इसमे वस्तुनिष्ठ दशाओ के अतिरिक्त व्यक्तिगत भावनाएँ भी निहित होती हैं। दोनो ही एतिहासिक रूप म निर्धारित होती हैं और उनके सास्कृतिक सन्दर्भ महत्त्वपूर्ण होते हैं। एक आरम्भ बिन्दु के रूप म यूनेस्को (1977) द्वारा प्रयुक्त सक्रियात्मक परिभाषा सन्तोषजनक प्रतीत होती है। इसके अनुसार

'जीवन की गुणवत्ता एक समावेशी सम्प्रत्यय है जिसम जीवन के सभी पहलू,

जिसमे महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओ की भौतिक तुष्टि के साथ जीवन के भौतिक पक्षो से परे स्थित अन्य पक्ष, जैसे व्यक्तिगत विकास और स्ववास्तविकीकरण तथा एक स्वस्थ पर्यावरण-व्यवस्था भी सम्मिलित है।

**मालमैन** (1971) इस सम्प्रत्यय को और भी परिष्कृत करते हुए एक जटिल परिभाषा देते हैं

"यह एक ऐसा सम्प्रत्यय है जो व्यक्तियो की ओर सकेत करता हे परन्तु यह महत्त्वाकाक्षाओ की तरह एक व्यक्ति, उसके समाज और उसक पर्यावरण की सक्रिय अन्त क्रिया द्वारा निर्धारित होता है। चूँकि यह महत्त्वाकाक्षाओ की सन्तुष्टि द्वारा निर्धारित होता है इसका विश्लेषण लगभग उतने ही आयामो मे सम्भव है जो मानवीय स्थान (स्पस) म निहित है मानवीय स्थान (स्पेस) के आयामो की सख्या स्वतन्त्र आवश्यकताआ की न्यूनतम सख्या पर निर्भर होती है जिसकी सहायता से किसी व्यक्ति की महत्त्वाकाक्षाओ के विशिष्ट समुच्चय की व्याख्या की जा सकती है।'

जीवन की गुणवत्ता पर विचार करन के समय व्यक्तियो को किसी भी तरह उपेक्षित नहीं किया जा सकता, उनकी आवश्यकताएँ और उनकी तुष्टि महन्वपूर्ण हैं पर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि व्यक्ति अपनी सस्कृति की उपज होता है और उनकी सन्तुष्टि और पूर्ति किसी भी तरह स उन्हे सम्भव बनानेवाली समाज व्यवस्था के लक्ष्यो और उपायो से अलग नही की जा सकती। भौतिक पर्यावरण की गुणवत्ता पर समग्र रूप स विचार भी समान रूप स महत्त्वपूर्ण है क्योकि यह भी एक महत्त्वपूर्ण मात्रा मे वस्तुगत स्थितिया और व्यक्ति की आत्मपरक सन्तुष्टि दोनो को निर्धारित करती है। जीवन की गुणवत्ता की किसी भी सन्तोषप्रद परिभाषा मे गतिकीय अन्त क्रिया के तीन तरह के मानदण्डो का सम्मिलित करना होगा सस्कृति द्वारा निर्धारित विशिष्ट मानदण्ड, वैज्ञानिक रूप से निर्धारित सार्वभौमिक मानदण्ड तथा पर्यावरण के अतिशोषण, उसके अवमूल्यन तथा उसमे सुधार के मानदण्ड।

समझदारी के नये सेतु बनने के साथ समाज और सस्कृतियाँ एक दूसरे के निकट आएँगी और उनके बीच आपसी अन्त क्रिया के अवसर बढ़ेगे। परन्तु सास्कृतिक विविधता बनी रहेगी क्योकि सभी समाजो का एक रूप होना न तो उचित है और न सम्भव ही। इस तरह जीवन की गुणवत्ता की सास्कृतिक परिभाषा और उसके अवयवो का मूल्याकन कभी भी व्यर्थ नही होगा। इसके साथ साथ इस बात पर भी बल दिया जाना चाहिए कि जो भी सास्कृतिक दृष्टि से सही है, वह सदा वैज्ञानिक दृष्टि से ठीक नही होगा और जो वैज्ञानिक दृष्टि से अनुशसित है, वह सास्कृतिक दृष्टि से अस्वीकार्य हो। आधुनिक विज्ञान तथा तकनीक, इतिहास

ओर सस्कृति से मिले विचारो और व्यवहार प्रकारो मे बदलाव लाते हैं, पर अनुकूलन की यह प्रक्रिया सदैव सरल नहीं होती है। उदाहरणार्थ विज्ञान पोषाहार के अनिवार्य तत्वा और मात्रा के मानदण्ड निश्चित कर सकता है, परन्तु इसे किस रूप मे लिया जाय इसे अलग-अलग सस्कृतियो पर छोड दिया जाना चाहिए। यही बात जीवन के अधिकाश अन्य क्षेत्रो पर भी लागू होती है।

अन्तिम विश्लेषण मे जीवन की गुणवत्ता लोगो की जैविक, अर्जित तथा सगठन की आवश्यकताओ की उनके सामाजिक परिवेश मे सन्तुष्टि का सन्तुलन है। नीचे दी गयी तालिका व्यक्ति तथा समाज के स्तरो पर वाछित जीवन की गुणवत्ता की कुछ प्रमुख अपेक्षाओ को प्रस्तुत करती है

**तालिका 5 1**

## मानव-आवश्यकताएँ तथा जीवन की गुणवत्ता की आवश्यकताएँ/अपेक्षाएँ

*अस्तित्व-रक्षा की आवश्यकताएँ*

**व्यक्ति स्तर पर ·**

उपयुक्त पोषाहार, जिसमे शुद्ध जल की तत्काल उपलब्धता भी सम्मिलित है,
उपयुक्त आवास व्यवस्था,
उपयुक्त वस्त्रो की व्यवस्था,
रोगो की रोकथाम तथा उपचार की औषधियो की उपलब्धता,
जीवन और सम्पति की सुरक्षा, और
पर्याप्त जीविका।

**समाज के स्तर पर :**

आहार सुरक्षा/उत्पादन तथा वितरण व्यवस्थाओ का सगठन, शुद्ध जल की आपूर्ति,
निम्न आय समूहो के लिए आवास योजनाएँ,
वस्त्रों के उत्पादन/वितरण का सगठन,
स्वास्थ्य सुविधाओ के जाल का सगठन,
सुरक्षा तथा पुलिस
रोजगार योजनाएँ, और
जनशिक्षा, जिसमे पोषाहार, जल का उपयोग, बच्चो की देखभाल तथा स्वास्थ्य और पर्यावरण की देखभाल सम्मिलित हो।

*समाजकीय आवश्यकताएँ*

**व्यक्ति के स्तर पर :**

बाल्यावस्था से किशोरावस्था तक देखभाल,
समाजीकरण के उपक्रम,

नियन्त्रण की व्यवस्था,
सहभागिता का भाव,
धनात्मक प्रतिक्रिया–पुरस्कार तथा सम्मान पाने के अवसर, और
व्यक्तिगत तथा सामाजिक आवश्यकताओं का सामंजस्य।

**समाज के स्तर पर :**
न्यूनतम जीवनरक्षक आवश्यकताओं तक सबकी पहुँच
सशक्तीकरण पक्षों की स्थिरता एवं उपयुक्तता
मौलिक मानवाधिकार और उनका सार्वभौमिक रूप से लागू होना
सहकारी संस्थागत संरचनाओं की वृद्धि
व्यक्तिगत उपलब्धि और सामाजिक योगदान के लिए बहुमूल्य पुरस्कार आदि की व्यवस्था, और
समतावादी परिवेश को प्रोत्साहन तथा मूलभूत सामाजिक आवश्यकताओं की पहचान।

*सांस्कृतिक और मानसिक आवश्यकताएँ*

**व्यक्ति के स्तर पर :**
मानसिक आवश्यकताओं के अनुरूप व्यक्तिगत स्वतन्त्रता
विश्राम तथा इसके उत्पादक उपयोगों के अवसर,
संस्कृति के उत्पादों/उपलब्धियों के आनन्द की प्राप्ति के अवसर
संस्कृति के विकास में अपना योगदान करने का अवसर,
अपने अस्तित्व की सार्थकता की अनुभूति
अपनी निजी उन्नति के अवसर।

**समाज के स्तर पर :**
सांस्कृतिक और धार्मिक भिन्नताओं की सहनशीलता की पृष्ठभूमि का प्रोत्साहन
तथा निहित निजी स्वतन्त्रता को बनाये रखना,
विश्राम-काल में किये जानेवाले सामूहिक कार्यों का संगठन,
संस्कृति और कला के प्रोत्साहन और प्रसार की एक नीति
उत्कृष्टता को प्रोत्साहन/सम्मान, और
बहुमुखीय तथा बहुआयामी आजीवन शिक्षा के अवसर।

*कल्याण सम्बन्धी आवश्यकताएँ*

**व्यक्ति के स्तर पर :**
मानव-निर्मित बन्धन और भेदभाव को नियन्त्रित करने की क्षमता, प्राकृतिक या आकस्मिक कठिनाइयों के बावजूद उपयोगी जीवन जी सकने की क्षमता,

**समाज के स्तर पर**
सेक्स प्रजाति तथा धर्म के आधार पर भेदभाव की समाप्ति
निम्नस्तरीय जीवन यापन करनेवाले तथा सास्कृतिक रूप से वंचित समूहो पर विशेष ध्यान
मानसिक एव शारीरिक रूप से विकलागो के लिए विशेष योजनाएँ और
उपरोक्त दोनो बिन्दुओ के लिए धनात्मक प्रयास।

*अनुकूलनात्मक आवश्यकताएँ*
**व्यक्ति के स्तर पर**
इतिहास बोध
आधुनिक विश्व को गढनेवाले प्रभावो की जानकारी/चेतना
भौतिक और सामाजिक सास्कृतिक पर्यावरण मे होनेवाले परिवर्तनो के साथ शीघ्रता तथा सहजता के साथ समायोजन करने की प्रवृत्ति और
रचनात्मक सामाजिक आलोचना।
**समाज के स्तर पर**
चेतना विस्तार के लिए प्रविधि शिक्षा
अनुकूलनात्मक परिवर्तन लाने के लिए प्रभावशाली सचार
सामाजिक सूचको का विकास तथा सामाजिक प्रवृत्तियो पर सजग दृष्टि
भविष्य की त्रासदियो के बारे मे पूर्वचेतावनी की व्यवस्था और
सस्थागत सरचनाओ मे निरन्तर परिमार्जन।

*प्रगति-उन्मुख आवश्यकताएँ*
**व्यक्ति के स्तर पर**
गवेषणा की इच्छा नयी समझ पाने की इच्छा तथा प्राप्त ज्ञान के परिणामो की जानकारी का प्रसार।
**समाज के स्तर पर**
*विज्ञान तकनीक मानविकी तथा समाजविज्ञानो मे ज्ञान के नये क्षेत्रो की गवेषणा* जिसमे अध्ययन परिणामो की प्रगति मे उपयोग पर बल दिया जाये।

यह देखा जा सकता है कि जीवन की गुणवत्ता की जो अवधारणा प्रस्तुत की गयी है वह पहले प्रस्तुत मानव-आवश्यकताओ की एक कामचलाऊ अवधारणा से जुडी है। यह अवधारणा व्यक्ति और सामाजिक/सास्कृतिक दोनो ही स्तरो पर प्रतिमान और मूल्याकन की दृष्टियो से पर्याप्त मात्रा मे परिवर्तन चाहती है। यह प्रदर्शित किया गया है कि जीवन रक्षा का पक्ष मानव समाज के विचारो मे सुनम्यता लाता है। विश्व के गरीबो के लिए सामान्यत' जीवन की गुणवत्ता की अवधारणा बनाते समय तथा तीसरी दुनिया की बहुसख्यक जनसख्या के लिए विशेष रूप

से प्रमुख प्रश्न जीवन रक्षा का है। मनुष्यत्व भौतिक जीवन रक्षा से कुछ अधिक की अपेक्षा करता है। यही कारण है कि प्रस्तुत की गयी अवधारणा मे जीवन रक्षा के साथ जैविक दृष्टि से अपेक्षित न्यूनतम के अतिरिक्त सास्कृतिक न्यूनतम को भी स्थान दिया गया है जो आकाक्षाओ और उनकी सन्तुष्टि को समायोजित कर सके। यह अवधारणा अत्यन्त आशाजनक नही है। इसमे निहित आस्था हमारी सीखने की क्षमता तथा यथार्थ के साथ समायोजन की हमारी योग्यता पर आधारित है।

## 6. नीति के आयाम

आधुनिकीकरण और विकास के प्रतिरूप मे उस आत्मविश्वास की महत्त्वाकाक्षा अब नहीं रही जो आज से तीन दशक पहले थी। परिणामो के विश्लेषण और नये देशज चिन्तन से कई महत्त्वपूर्ण सन्देह और प्रश्न उभरे हैं, जिन्होने नयी सूझ को जन्म दिया है और एक नये वैकल्पिक प्रतिरूप के उद्भव की दिशा मे हमे आगे ले गये हैं। वांछित मॉडल की रूपरेखा अपने व्यापक रूप मे तो स्पष्ट है, परन्तु उसे क्रियान्वित करने के उपायो के बारे मे अभी भी आम सहमति नहीं है।

**वैकल्पिक प्रारूप** · ऐसा प्रतीत हो रहा है कि नये प्रतिरूप के बारे मे सहमति उभर रही है। उसके मुख्य अग हैं

1 आर्थिक वृद्धि आवश्यक तो है पर मात्र यही विकास नही है। इसे सुपरिभाषित मानवीय, सामाजिक और सास्कृतिक लक्ष्यो से जोडना होगा, आर्थिक वृद्धि को मानव विकास के एक उपाय के रूप म स्वीकार करना होगा। विकास को व्यापक जनसमुदाय की आधारभूत आवश्यकताओ को पहले पूरा करना होगा, बाद मे उनके जीवन की गुणवत्ता को समृद्ध करना होगा।

2 आर्थिक वृद्धि को केवल सकल राष्ट्रीय उत्पाद तथा प्रति व्यक्ति आय मे बढोतरी के रूप मे ही अब परिभाषित नहीं किया जा सकता। दोनो ही आवश्यक हैं, परन्तु लक्ष्योन्मुखता के अभाव मे वे विकास के लक्ष्यो को विफल कर सकते हैं। वृद्धि से होनेवाले लाभो का एक बडा हिस्सा प्राय· निश्चित रूप से समाज के ऊपरी तबके के लिए सुरक्षित हो जाता है और व्यापक जनसमुदाय अपनी दरिद्रावस्था मे ही पूर्ववत् बना रहता है। तीसरी दुनिया के देशो ने विकास का जो मार्ग अपनाया है, वह अधी गली सिद्ध हुआ है। जनता और समाज दोनो को केन्द्र मे होना चाहिए। इसका तात्पर्य है, उत्पादो और सेवाओ का अधिक समानतापूर्वक वितरण। अनुभव बताता है कि ऐसा करने से वृद्धि मे तीव्रता आयेगी। अत· जनता मे मूल निवेश के साथ साथ वितरणात्मक न्याय भी आवश्यक

है। इस निवेश से केवल व्यक्ति की ही उन्नति न हो बल्कि समाज की अपनी समस्याओ को समझने और उनके कारगर उपाय खोज निकालने की समाज की क्षमता को व्यापक और तीक्ष्ण बनाना चाहिए।

3 इन लक्ष्यो को पाने के लिए आधारभूत सरचनात्मक परिवर्तन जरूरी है। इस लक्ष्य पर अनेक बार बल दिया गया है और उसे दुहराया गया है परन्तु तीसरी दुनिया के अधिकाश देशो मे सरचनात्मक परिवर्तन के प्रयास बडे ही क्षीण रहे हैं और परिस्थितियो के तकाजो की तुलना मे बौने साबित हुए हैं। व्यक्तित्व व्यवस्था मूल्य अभिवृत्ति की व्यवस्था तथा सामाजिक व्यवस्था मे बदलाव की दिशा को काफी परिशुद्धता के साथ रेखाकित किया गया है परन्तु विभिन्न समाज इन परिस्थितियो को पाने के लिए किस तरह आगे बढे यह स्पष्ट नही है। शिक्षा जन सचार और नगरीकरण सहायता पहुँचाते हैं पर थोडी ही दूर तक। आर्थिक अवसर की सरचना को उन्मुक्त करना होगा और इतिहास मे हुए अन्यायो को कल्पनाशील प्रयासो द्वारा दूर करना होगा। यह उत्पादन के सम्बन्धो मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन सचेत सकारात्मक तरफदारी की नीति और आम जनता को अपनी सामर्थ्य सम्भावनाओ के बारे मे सजग किये बिना सम्भव नहीं है।

4 पिछले तीन दशको मे विकास की दिशा मे किये गये प्रयास ज्यादातर अनुकरणमूलक रहे हैं और इसलिए अनेक स्थानो पर गलत दिशा मे उन्मुख रहे हैं। इतिहास और परम्परा को दिखावे के तौर पर कुछ महत्त्व दिया गया है, परन्तु अधिकाशत देशज सृजनात्मकता को प्रतिबंधित रखा गया है। एक छोटे अभिजात वर्ग-प्राय पाश्चात्य दृष्टिकोणवाले-ने वर्तमान और भविष्य के बारे मे प्रमुख निर्णय लिया सामान्य जनता की उसमे कुछ भी भूमिका नहीं रही। समाज की सस्थागत सरचना उन्हे अपने भाग्य के निर्माण मे बहुत थोडी सी छूट देती है। तीसरी दुनिया के अनेक देश तानाशाही और दमनात्मक शासन मे चल रहे हैं कुछ मे प्रजातन्त्र का आडम्बर है। जहाँ प्रजातन्त्र राजनीतिक अर्थ मे जीवित है वहाँ जनता की इच्छा अभिजात वर्गवाले राजनीतिक दल से बँधी होती है और उसकी विचारधाराओ मे थोडा बहुत ही अन्तर होता है। देशज विकास के लिए एक नयी सस्थागत रूपरेखा जिसमे जनता और उसके सहचर्यो को अधिक निर्णायक भूमिका मिल सके अपनाना आवश्यक होगा।

5 विकास की प्रक्रिया को सही अर्थो मे सहभागी बनानेवाले प्रयास के विषय मे सोचना आवश्यक है। यह तभी सम्भव होगा जब आम आदमी की सही अर्थो मे, न कि नाममात्र की, सत्ता और ससाधनो तक पहुँच हो। वह प्रजातन्त्र जहाँ केवल समय समय पर चुनाव होते रहते हैं, सही अर्थो मे सहभागी प्रजातत्र नही। लोगो के द्वारा पहल करने की इच्छा को खंडित नही करना चाहिए और जनजागरण का अर्थ अभिजात वर्ग द्वारा प्रतिपादित सत्ता के केन्द्रो द्वारा लिये निर्णयो का

आम जनता द्वारा पालन नहीं माना जाना चाहिए। दूसरे शब्दो मे, लोगो की अपने बारे मे, वर्तमान और भविष्य के बारे मे ही निर्णय लेने के अतिरिक्त विकास कार्यक्रमो के कार्यान्वयन मे भी प्रमुख भूमिका होनी चाहिए।

6 व्यापक स्तर पर विकास की प्रक्रिया पर्यावरण के प्रति सवेदनशील नहीं रही है। इसका बडा घातक प्रभाव पडा है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि बहुत सी सभ्यताएँ इसलिए समाप्त हो गयीं कि उन्होने पर्यावरण का एक सीमा से अधिक दोहन किया। विलम्ब से ही सही, पश्चिमी जगत् ने इस समस्या को सवेदनशीलता के साथ हल करने मे जागरूकता दिखाई है। तीसरी दुनिया के अधिकाश देशो मे एक गलत धारणा यह फैली हुई है कि उद्योगीकरण की निम्न मात्रा के कारण वे पर्यावरण के प्रमुख खतरो से बचे हुए हैं। यह सच नहीं है। पर्यावरण की चेतना विकासशील देशो मे भी बढानी है, जिससे कि वे अपने पर्यावरण के सरक्षण और अभिवृद्धि के लिए समय पर कदम उठा सके। पर्यावरणविदो की भयानक परिणामोवाली चेतावनियो को मात्र एक फैशन नहीं मानना चाहिए।

7 विकास और नियोजन मे एक बहुत बडी कमी इस प्रक्रिया को धारण करने की क्षमता का अभाव है। वे उसकी निरन्तरता को बनाए रख सकने मे समर्थ नहीं हैं। अधिकाश विकासशील देश चेतन या अचेतन रूप से अपने ससाधनो और सीमाओ के बारे मे बिना सोचे हुए पश्चिम का अनुकरण कर रहे हैं। यह सिद्ध है कि समृद्ध देश भी ऐसे बिन्दु पर पहुँच गये हैं जहाँ विकास कम से कम कुछ अर्थों मे, धारणयोग्य नहीं रह गया है और उसके भयकर त्रासद परिणाम हो रहे हैं। मुद्रास्फीति, बेरोजगारी मदी तथा पर्यावरण के खतरे आदि इसके प्रभाव हैं। तीसरी दुनिया के देशो को सचेत होकर अपने विकास को धारणयोग्य बनाना है। उसकी महत्त्वाकाक्षा बहुत ऊँची नहीं होनी चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि उन्हे विज्ञान और तकनीक को कम महत्त्व देना चाहिए। वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति धारणयोग्य विकास का प्रमुख निर्धारक हो सकती है।

8.तीसरी दुनिया के देशो को अपने विकास को यथासम्भव आत्मनिर्भर बनाने का भी यत्न करना चाहिए। यहाँ पर मुख्य विचार यह है कि निर्भरता की बाधाओ को पार कर उन्हे विकसित देशो के साथ अपने मालिक-आसामी सम्बन्धो को तोडना चाहिए। आत्मनिर्भरता एक सापेक्ष विचार है। ससाधनो की सीमाएँ, जनाकिक समीकरण तथा वैज्ञानिक तकनीकी प्रगति के स्तर आत्मनिर्भरता की सम्भव मात्रा को तय करनेवाले महत्त्वपूर्ण परिवर्त्य हैं। चीन और भारत जैसे विशाल और जनसख्याबहुल देश छोटे और आबद्धभूमि अथवा द्वीपीय देशो की अपेक्षा अधिक आत्मनिर्भर हो सकते हैं। अत हमे प्राप्त की जा सकनेयोग्य आत्मनिर्भरता पर बल देना चाहिए।

9 जहाँ सापेक्षिक आत्मनिर्भरता आदर्श है, वहीं व्यापक परस्पर निर्भरता की

उपेक्षा नही की जा सकती। विकसित देश अनेक महत्त्वपूर्ण ससाधनो के लिए जो उनके विकास को सम्भव बनाने और उस आगे बढाने मे योगदान दे रहे हैं विकासशील देशो पर निर्भर होते हैं। यह परस्पर निर्भरता केवल कच्चे माल और अशत ससाधित सामग्री तक ही सीमित नही है बौद्धिक क्षमता और प्रशिक्षित योग्यता के क्षेत्र मे भी काफी हद तक पायी जाती है। इस प्रसग म यहाँ सबसे दु खद बात यह है कि परस्पर निर्भरता गैरबराबरी की दिशा मे हो रही है। विकासशील देशो के ससाधन और उनकी बौद्धिक और तकनीकी क्षमताएँ विकसित देश सस्ते दामो पर खरीदते हैं। प्रस्तावित नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की आवश्यकता इसीलिए है। इस नयी व्यवस्था क मुख्य और सूक्ष्म तत्त्व विवेचित होने हैं और उनके क्रम और चरणो पर सहमति उभरनी है। तीसरी दुनिया के देशो की अपनी समस्याओ के समाधान के लिए योग्यता और ससाधनो को एकत्र करना चाहिए। सहयोग और परस्पर निर्भरता कई स्तरो पर देखी जानी चाहिए जिसम उपक्षेत्रीय और क्षेत्रीय तथा समस्त तीसरी दुनिया को सम्मिलित करना चाहिए। ये सरूप राष्ट्रीय स्वाभिमान आत्मगौरव तथा आवश्यकताओ और आर्थिक तर्क के अनुरूप होने चाहिए। साथ ही व्यापक सहयोग और परस्पर निर्भरता के स्वरूप को भी निरूपित करना होगा। सम्यक् स्वहित जो जीवनरक्षा और प्रगति स सचलित हो सम्भवत समानता को ज म दे सकेगा।

10 तीसरी दुनिया के नियोजन और विकास का एक दूसरा पहलू वर्तमान के प्रति अ यधिक झुकाव तथा भविष्य के लिए नियोजन की कमी है। यह सही है कि वर्तमान की आवश्यकताएँ अनेक और जटिल है परन्तु भविष्य की उपेक्षा करना खतरनाक होगा। केवल उपयोगितावाली दृष्टि को अपनाकर उन मुद्दो और समस्याओ को भुलाया नही जा सकता जो भविष्य मे भयावह रूप ले सकती हैं। विकास की प्रक्रिया मे भविष्य उ मुखता को स्थान देना अनिवार्य है।

विकास के एक नये प्रारूप को जिसमे ऊपर चर्चित सभी अवयव विद्यमान हो गहराई से महसूस किया जा रहा है और असदिग्ध रूप से निरूपित किया गया है। विकास की कार्यवाही इस नयी विचारधारा का बहुत कम प्रभाव दिखलाती है। नियोजन अभी भी अभिजात वर्ग का पक्षधर बना हुआ है एक छोटा सा वर्ग यह निश्चित करता है कि समाज के लिए क्या ठीक है और इस प्रक्रिया मे वह अपने वर्ग के निहित स्वार्थ की सिद्धि का यत्न करता है। गरीबी एक प्रमुख समस्या मानी गयी है पर तु ऐसा मानना आडम्बर मात्र रह गया है। आम जनता के नाम पर बात करना आज का फैशन हो गया है जबकि वास्तव म विकास की कुछ जूठन और कुछ टुकडे ही सामा य जन को मिल पाते हैं। सार्थक और दूरगामी परिणामवाल सरचनात्मक सुधार को पूरा करने के लिए बहुत सारे तथाकथित सुधार निरर्थक सिद्ध हुए हैं और उनकी जटिलताए और कमियाँ इतनी अधिक और विविध

प्रकार की हैं कि बहुसख्यक वर्ग उनसे बहुत कम मात्रा म ही लाभ पाता है। विकास की प्रक्रिया का बहुत बडा भाग अपने जनप्रिय मुखौटे के बावजूद उस छोट मे सुविधाप्राप्त अल्पसख्यक वर्ग के पक्ष मे ही बना रहता है, जो सत्ता पर अपना नियन्त्रण बनाये हुए है। नियोजन के लक्ष्य और प्रक्रियाएँ अधिकाशत अनुकरणमूलक हैं बाहर से आयातित हैं, इसलिए दिग्भ्रमित हैं। ये सहभागी नहीं हैं, पर्यावरण के प्रति अत्यन्त कम सवेदनशील हैं और अधिकाशत धारणयोग्य नहीं हैं। अपेक्षित राजनीतिक इच्छा के अभाव म और अधोगामी अन्तर्राष्ट्रीय माहौल और दबाव के कारण आत्मनिर्भरता का आदर्श वास्तविकता मे केवल चर्चा का भाग ही बना रहता है और निर्भरता निरन्तर बनी रहती है। नयी विचारधारा और सक्रिय कार्यान्वयन के बीच बहुत बडी खाई बनी हुई है।

विचार और कार्य म इतना चकाचौंध करनेवाला अन्तर्विरोध क्यो बना हुआ है ? निहित स्वार्थ अभी भी सशक्त हैं और उनके साथ सघर्ष जरूरी है। साथ ही जनता के बढते हुए दबाव के कारण इनसे कभी-कभी थोडा बहुत लाभ भी हो जाता है। फलत तीसरी दुनिया बहुसख्यक समाज की समस्याओ की बौद्धिक और सावेगिक जानकारी तो रखती है परन्तु उनके प्रति सवेदनशीलता और उनके बारे म कुछ करने के लिए निर्णायक राजनीतिक इच्छा के लगभग पूर्ण अभाव का द्वन्द्व भी दिखाती है। उपयोगितावाद की राजनीति विभिन्न प्रकार के सघर्षों की शृखला को जन्म देती है। मलहम लगाने जैसे तात्कालिक तरीका का उपयोग अस्थायी इलाज तो है, पर वे समस्याओ को दूर करने और गहरी व्याधि के लिए इलाज प्रदान नहीं करते। व्यापक रूप से जनता सरकार पर अत्यधिक निर्भरता दिखाती है, जिसकी कार्य करने की क्षमता हर बीतते हुए दशक के साथ घटती जा रही है। एक ऐसा बिन्दु आ पहुँचा है जहाँ सरकार पर पक्षाघात लग प्रतीत होता है, जहाँ अधिकाश सरकारे उलझन मे पड गयी हैं और वे क्रमश जटिल होते हुए और बडे पैमाने की समस्या को सुलझाने म असमर्थ हैं। इसका अनिवार्य निष्कर्ष है एक नये प्रारूप का निर्माण, जिसमे आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों पक्षों की नयी व्यवस्था बन सके। जब तक दो परम्परागत व्यवस्थाओ के बीच हानिकर सम्बन्ध तोडा नहीं जायेगा, कोई मौलिक परिवर्तन सम्भव नहीं है। फिर भी आधारभूत परिवर्तन से कम कोई भी समझौता विकास के वैकल्पिक मॉडल की समस्याओं को नहीं सुलझा सकता।

**विकास की नीति के प्रमुख मुद्दे** · विकास के नये प्रारूप के लिए एक वैकल्पिक नीति की रूपरेखा अपेक्षित है। यदि तीसरी दुनिया के विकास का कार्यक्रम प्रभावशाली नहीं रहा है तो इसका कारण उभर रहे प्रारूप और नीति के नियमन और कार्यान्वयन की सस्थागत सरचना के बीच तालमेल का अभाव है। नीति के प्रति परम्परागत दृष्टिकोण वैकल्पिक मॉडल मे निहित आवश्यकताओ के प्रति

बिल्कुल ही सवेदनशील नही हे।

**लक्ष्यों का निर्धारण** तीसरी दुनिया की विकास योजनाओ के सतही तौर से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि वे अभी भी वृद्धि और सकल राष्ट्रीय उत्पाद को बढाने पर ही बल दे रही हैं। इन दस्तावेजो मे सामाजिक विकास का विचार और गरीबी हटाने के लक्ष्य तथा जीवन की गुणवत्ता म सुधार का सम्मिलित किया जाने लगा है परन्तु इन्हे बहुत कम महत्त्व दिया गया हे तथा विकास के लक्ष्यो के साथ उनका सावयवी सम्बन्ध नही है। उत्पादन के लक्ष्य स्पष्ट रूप से निश्चित किये गये हैं सास्कृतिक लक्ष्य अभी भी गड्डमड्ड और अस्पष्ट हैं। निरन्तर वृद्धि के लिए व्यवस्था महत्त्वपूर्ण है परन्तु व्यवस्था के लक्ष्य को नियोजन के प्रयासो म कदाचित् ही आवश्यक अग माना गया है। यह जरूरी है कि हम सास्कृतिक और व्यवस्था के लक्ष्यो और उत्पादन के लक्ष्या के साथ इनके सावयवी सम्बन्धो पर विचार करे। इनमे पहला आर्थिक वृद्धि के लिए सामाजिक लक्ष्य प्रदान करता है जबकि दूसरा इनके लिए अनुकूल परिस्थितिया बनाता हे।

लक्ष्यों के निर्धारण मे एक दूसरी कमी वर्तमान की समस्याओ के प्रति अत्यधिक लगाव और दीर्घकालिक लक्ष्यो को धुधला करना हे। वर्तमान निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण है परन्तु इसको ठीक से न सभालन पर और अस्थायी लाभ का ही दखने पर भविष्य के लिए ऐसी जटिल समस्याए पैदा हाती हैं जिनका यदि पूर्वानुमान नही लगाया गया तो वे असाध्य रूप ल सकती हैं। तीसरी दुनिया के कई देशो म क्रमश दीर्घकालीन नियोजन को स्थान दिया जा रहा है परन्तु इसको दूसरे दर्जे का महत्त्व दिया गया है और साम्प्रतिक योजना पर इसका शायद ही कभी सार्थक प्रभाव पडता है। पर्यावरण और ससाधनो के नियोजन म दूरदृष्टि को महत्त्व दिया जा रहा है परन्तु अभी भी मानवीय और सामाजिक आयाम को इसमे स्थान नहीं मिला है। फलत देर सबेर हमे ऐसी मानवीय तथा सामाजिक सास्कृतिक समस्याओ का सामना करना पड सकता है जो उनको हल करन की तकनीक और व्यवस्था की क्षमता से परे हो। इनके लक्षणो को कोई भी देख सकता है पर जो आज दिखाई द रहा है वह अन्दर छिपे विशाल हिमशैल के शीर्ष का एक छोटा सा भाग है। विकल्पो की खोज केवल चर्चा का विषय ही नहीं है हमे उस पर काम भी करना होगा।

विकास के लक्ष्यो के निरूपण मे यह पाया गया है कि राजनीतिज्ञ ऐसे आदर्शो की बात करते हैं जो सम्भावना से परे हैं। यह विकास का सँभालने की एक अपूर्ण दृष्टि है। ये लक्ष्य अत्यधिक आशावादी हो सकते हें या उनके कारण अस्थायी राजनैतिक लाभ मिल सकता है। इनमे प्रत्याशाएँ बढती हैं और यदि व अधूरी रह जाती हैं तो उनसे कुठा उत्पन्न हाती हे। इसलिए विकास के लक्ष्य के बारे मे उनके पूरा किय जा सकने और धारण करने की दृष्टि से अच्छी तरह से विचार

कर लेना चाहिए। न पूरी की जा सकनेवाली योजनाएँ खोये हुए अवसर होंगी और उनसे ससाधनो का दुरुपयोग होगा। न धारण किया जा सकनेवाला विकास भ्रामक है। दोनो ही के कारण नीति मे वार बार परिवर्तन किए जाते हैं जो अनुत्पादी होते हैं।

**सीमाओं का प्रश्न** बाह्य सीमाओ का सम्प्रत्यय अपेक्षाकृत नया है।

> 'सामान्यत इसका उपयोग भूमण्डलीय सन्दर्भ मे ग्रहो की जीवनशक्ति को समर्थन देनेवाली व्यवस्थाओ और प्रक्रियाओ की कमजोरी को दर्शाने के लिए किया गया है जिस तरह अन्तरिक्ष यान पोत पृथ्वी—वह ग्रह जिस पर मनुष्य अपने जीवनयापन के लिए पूर्णत निर्भर है—उसकी सीमा को दिखाने के लिए किया गया था (मैथ्यूज 1976)।

इस अवधारणा को गहराई से जाँचने और विचारने पर इसकी जटिलता सामने आती है सरलीकृत परिभाषाएँ सहायता नहीं कर पातीं। इस बात को स्पष्ट करने के लिए हमे विलियम एच मैथ्यूज के महत्त्वपूर्ण लेख की ओर लौटना होगा। इसके सम्यक् निष्कर्ष यहाँ पर पूर्ण रूप से प्रस्तुत करने योग्य हैं

> 'बाह्य सीमाओ' के दो आधारभूत निर्धारक हैं (अ) उपलब्ध ससाधनो की मात्रा तथा प्रकृति के नियम और (ब) मनुष्य इस प्राकृतिक परिस्थिति के प्रति अपने कार्यकलापो को किस तरह सम्पादित करता है। इसके पहले कि पुन प्राप्त हो सकनेवाले ससाधनो और पर्यावरण व्यवस्थाओ की वाह्य सीमाएँ निश्चित की जा सकें इन दोनो को जानना होगा। अपुनःप्राप्य ससाधनो के लिए केवल पहला निर्धारक ही महत्त्वपूर्ण है। जैव भौतिक दशाओ की सम्पूर्ण वैज्ञानिक समझ मिलने पर भी सामाजिक मूल्यो वरीयताओ और निर्णायक प्रक्रियाओ के बारे म यदि अधिकाश वाह्य सीमाओ को परिभाषित करना है तो और अधिक सूचना आवश्यक होगी।
>
> वाह्य एक शब्द है जो 'वाह्य सीमाओ के वाक्याश मे आता है। यह उस सन्दर्भ की ओर सकेत करता है जिसके परिप्रेक्ष्य म सीमाओ पर विचार करना है उदाहरणार्थ भूमण्डलीय वाह्य सीमाएँ राष्ट्रीय वाह्य सीमाएँ और क्षेत्रीय वाह्य सीमाएँ।
>
> विभिन्न प्रकार की वाह्य सीमाओ के लिए सन्दर्भों का चुनाव इस वात को प्रभावित करता है कि इन सीमाओ को वैज्ञानिक दृष्टि से तथा सामाजिक और राजनीतिक प्रक्रियाओ द्वारा किस तरह परिभाषित किया जायेगा।
>
> सन्दर्भों का चुनाव आत्मनिर्भरता निर्भरता और परस्परनिर्भरता की चर्चा करते समय एक महत्त्वपूर्ण कारक के रूप मे उभरता है। वाह्य सीमाओ

को बिना पार किये आधारभूत मानवीय आवश्यकताओ के लक्ष्यो को पूरा करने मे हमे वरीयता के कुछ निर्णय लेने होगे जो अनेक समाजो द्वारा प्रकट रूप से नही लिये गये हैं। ऐसे अनेक समाजस्तरीय निर्णय हैं जो बाह्य सीमाओ की परिभाषा को प्रभावित करते हैं, और वैज्ञानिक सामग्री के समान होने पर भी बाह्य सीमाओ को पार करने का अर्थ अलग-अलग हो जाता है। बाह्य सीमाओ का आदर करने का लक्ष्य आवश्यकता पूर्ति पर 'धारणीयता' की शर्त लगाने जैसा है, परन्तु इसकी परिभाषा भी अनेक सामाजिक निर्णयो पर अवलम्बित है।

बाह्य सीमाओ को पार न करने का लक्ष्य सम्भवत सामाजिक निर्णय प्रक्रिया मे महत्त्व पानेवाले मूल्यो की ही तरह का एक और मूल्य, एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मूल्य, बन जाता है। इसके लिए संसाधनो और पर्यावरण के प्रश्नो पर विचार करने के लिए सावधानी से विकसित किये गये मानको की आवश्यकता होगी। बाह्य सीमाओ के सम्प्रत्यय को सामाजिक निर्णय-प्रक्रिया मे समाहित करने के लिए सामाजिक और राजनीतिक प्रक्रियाओ सास्कृतिक अन्तरो, अपेक्षित तरीको को सस्थागत बनाने और प्रासगिक तकनीको के उपभोग की प्रकृति और सीमाओ की सतर्क जाँच अपेक्षित है।

विभिन्न बाह्य सीमाओ के बारे मे उपलब्ध वैज्ञानिक आकडो को प्राप्त करना और वैज्ञानिक मत का सर्वेक्षण एक सीधा, पर कठिन कार्य है। कई परिस्थितियो मे बाह्य सीमाओ के आरम्भिक आकलन के लिए भी यह अपर्याप्त होगा, क्योकि आँकडो का भी अभाव है और अवैज्ञानिक कारक भी महत्त्वपूर्ण हैं।

आधारभूत तकनीकी उपागम को पूरी तरह से विकसित करने के पहले अध्ययन विधि की कई समस्याओ को दूर करना होगा। इसके अन्तर्गत विश्लेषण के आधारभूत साचे का निर्धारण इन साँचो का प्रतिगमनात्मक स्वरूप, किसी एक आवश्यकता को पूरा करने म प्रयुक्त विभिन्न प्रकार की वैकल्पिक विधियो और विभिन्न तरह के कार्यो के प्रभाव और उनकी माँगे, तथा विस्तृत विश्लेषण के लिए उपयुक्त सूचना-आधारो और मॉडलो का विकास अपेक्षित होगा।

बाह्य सीमाओ का प्रश्न मुख्यत जनसख्या आहार ऊर्जा और अन्य अनिवार्य ससाधनो से जुड़ा हुआ है। माल्थसवादियो तथा नवमाल्थसवादियो द्वारा की गयी विनाश की भविष्यवाणियाँ गलत साबित हुई हैं। जनसख्या वृद्धि के साथ खाद्यान्न के उत्पादन का विश्व मानदण्ड बढा है, कुछ थोडा अधिक ही है। इन दोनो के बीच का अन्तर कम है और परिस्थिति कठिन बनी हुई है, परन्तु यह निराशाजनक

स्थिति नही रहेगी, यदि मानव बुद्धि को जनसख्या और आहार के अनुपात के कारण उत्पन्न समस्याओ के समाधान की दिशा मे लगाया जाये। एक अनुमान के साथ हमारी धरती के ससाधन 36 बिलियन की जनसख्या के लिए आहार उपलब्ध करा सकते हैं हालाँकि उसमे एक बडी कमी है। इसके अन्तर्गत समुद्र के जल को अक्षारीय बनाने की क्षमता लम्बी दूरी तक उसे पम्प करने और सिचाई तथा ऊर्जा उत्पादन के लिए कम खर्च पर काफी ऊँचाई तक पहुँचाने की क्षमता भी अन्तर्निहित है। लिनमैन समूह के दूसरे पूर्वानुमान के अनुसार 3 5 बिलियन हैक्टर कृषियोग्य भूमि है जो प्रतिवर्ष 50 बिलियन टन फसल पैदा कर सकती है। यह आज के समय के उत्पादन का लगभग 40 गुना होगा। खनिज ससाधन की आपूर्ति भी प्रति इकाई लागत मे थोडी सी वृद्धि करके बढाई जा सकती है। प्रदूषण को नियन्त्रित किया जा सकता है और पर्यावरण की गुणवत्ता मे भी सुधार सम्भव है, यदि विश्व के सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 2 प्रतिशत इन सबसे जुडे कार्यक्रम मे लगाया जाये। यदि पर्याप्त वित्तीय साधन दिये जाएँ और खोज कार्य के लिए कुछ और समय दिया जाय तो विज्ञान और तकनीक तेजी से समाप्त होते हुए ससाधनो के प्रकार्यात्मक विकल्प को ढूँढने मे सक्षम हैं। जैसे जैसे विकास और तकनीक की नयी दिशाएँ खुल रही हैं, ससाधनो को पृथ्वी के बाहर से भी लाने के आसार अधिक सम्भव दिखाई पड रहे हैं। इस धरती के ससाधन सीमित हो सकते हैं, परन्तु उनमे वृद्धि करने या उनके विकल्प ढूँढने की मानवीय क्षमता अपरिमित है।

जहाँ बाह्य सीमाओ को ध्यान मे रखना है, वहीं आन्तरिक सीमाएँ सबसे कठिन समस्याएँ पैदा करती हैं। इन सीमाओ के आयाम सामाजिक और राजनीतिक कारणो के द्वारा और सस्थाओ और सस्कृतियो द्वारा निर्धारित होते हैं। जब हम खाद्य उत्पादन मे वृद्धि की बात करते हैं तो हमे भूमि के स्वामित्व की सरचना बदलने के प्रश्न पर सोचना पडता है। तीव्र विकास सम्भव तो है, पर इसके लिए अत्यधिक ससाधनो की आवश्यकता है।

एक अनुमान के अनुसार एक देश के सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 35 प्रतिशत इसमे लगाना होगा। कम विकसित और यहाँ तक कि विकासशील देश भी ऐसा कर सकने के लिए बडी कठिनाई से ही साधन जुटा पाएँगे। एक सीमा के बाद पेटी को कसा नहीं जा सकता है। इतनी बडी मात्रा मे ससाधनो का विकासशील देश मे लगाना सभव नही लगता। वे सकल राष्ट्रीय उत्पाद का एक प्रतिशत भी इस तरह के कार्य के लिए अलग सुरक्षित नही रख सकते हैं। उनका योगदान 3 प्रतिशत से अधिक रहा है, पर कभी 4 प्रतिशत का स्पर्श नहीं कर सका है। विज्ञान और तकनीक अचम्भित करनेवाला विकास करते हैं, पर उनका उपयोग बडा खर्चीला है और नयी खोजो के छोटे खण्ड भी उन देशो तक पहुँचने मे,

जहाँ उनकी सबसे अधिक ज्रूरत है कई दशक लग जाएँगे। किसी भी हालत मे हमे जरूरतो के दबाव और वैज्ञानिक और तकनीकी समाधान के बीच के अन्तराल को पहचानना होगा। वर्ष 2500 के लिए बड़े ही उच्च आदर्श व्यक्त किये जा सकते हैं परन्तु सुदूर भविष्य के लिए जबकि वर्तमान इतना कठोर है आज की पीढ़ी को परिश्रम और बलिदान के लिए प्रेरित करना कठिन है। और भविष्य के बारे में कौन जानता है ? हमारी गलती से ऐसा युद्ध हो सकता है जो मानव जगत को ही समाप्त कर दे।

आन्तरिक सीमाएँ इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हैं कि तीव्र प्रगति अपूर्वकथनीय प्रतिक्रियाओ को जन्म देती है। इसका एक जीता जागता उदाहरण ईरान है जहाँ उसके निवर्तमान शाह मुहम्मद रजा पहलवी ने 1943 के करीब हर आदमी के लिए रोटी मकान कपडा स्वास्थ्य और शिक्षा का कार्यक्रम शुरू किया था। उन्होने कृषि मे सुधार किया शिक्षा का आधार विस्तृत किया एक लोक स्वास्थ्य व्यवस्था का गठन किया श्वेतक्रान्ति लाने का प्रयास किया प्रशासनिक सुधार किए और महिलाओ की उन्मुक्ति के लिए प्रयास शुरू किया। ये सब विकास के उपयुक्त लक्ष्य थे और आधुनिकीकरण तथा आर्थिक चिन्तन की शर्तो को लगभग पूरा करते थे। इसके परिणाम बडे प्रभावशाली थे। चौथाई सदी म ही वृद्धि की दर म चमत्कार जसा हुआ। सयुक्त राष्ट्र स जुडे सगठना के अनुसार श्वेतक्रान्ति के शुरू होने के बाद ईरान म आर्थिक विकास की वार्षिक दर 13 प्रतिशत की औसत आमदनी मे भी जोरदार वृद्धि हुई–160 डालर से बढकर 2200 डालर प्रतिव्यक्ति। उस समय के शाह के अनुसार ईरान म वृद्धि की दर वर्ष 1975 मे जापान से चार गुनी अधिक थी। ये दावे निश्चय ही बढा चढाकर किये गये होगे पर रोचक बात है इस शासन और इस कार्यक्रम का नाटकीय अन्त। यह उदाहरण आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के टूटने म आन्तरिक सीमाओ का कारण के रूप मे सामने लाता है तथा सामाजिक सगठन और सास्कृतिक मूल्यो की सीमाएँ तथा ईरान की अर्थव्यवस्था और राजनीति पर बाहरी दबाव को भी स्पष्ट करता है। इस तरह आर्थिक सोच की सीमाओ पर विचार आन्तरिक सीमाओ को समझने का ही एक अग है।

विकास के लिए नीति की रूपरेखा को देश की जनसख्या और उपलब्ध ससाधनो को दृष्टि म रखना होगा। जनसख्या विस्फोट का हमारा भय झूठा साबित हो सकता है और दीर्घकाल म जनसख्या एक सम्पत्ति सिद्ध हो सकती है हालाँकि इस समय जनसख्या निश्चित रूप स एक समस्या है। जनसख्या वृद्धि की दर को रोकना होगा और मानव-कल्याण म पूजी के निवेश द्वारा गुणवत्ता म सुधार लाना होगा। इसी तरह विकास की नीति को ससाधनो के ठीक स उपयोग करने पर विचार करना होगा और उनको बनाये रखने बढाने और उनके विकल्प पर भी विचार करना होगा।

पर्यावरण की गुणवत्ता का सरक्षण और सुधार एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारक है। अपनी पीढ़ी और बाद की पीढ़ियो के प्रति हमारा यह दायित्व है कि पर्यावरण इतना प्रदूषित और निकृष्ट न हो जाए कि उससे जीवन के लिए खतरा उत्पन्न हो। देशज सृजनात्मकता स्थानीय ससाधनो के प्रभावी उपयोग के तरीके पा सकती है और कुछ चुने हुए क्षेत्रो मे सही तकनीक ला सकती है, जिससे पर्यावरण की हानि और ससाधनो की समाप्ति पर काबू पाया जा सके। विज्ञान और तकनीक मे निर्भरता, राजनीतिक और आर्थिक निर्भरता से कही अधिक हेय है। तीसरी दुनिया की आवश्यकता है एक मध्यम और निम्न आकार की तकनीक का समुचित मिश्रण और सन्तुलन। तकनीक उधार लेकर अपनायी जा सकती है और, इसे अपने अनुकूल बनाया जा सकता है। इस सन्दर्भ मे दो प्रश्न महत्वपूर्ण हैं इस तकनीक की क्या कीमत चुकानी पड़ेगी–सम्प्रभुता और स्वाभिमान ? और यह परावलम्बन कब तक चलेगा ? बाह्य सीमाओ की चुनौती स्वीकार करने का कोई शार्टकट नहीं है। यह हमे आन्तरिक सीमाओ की समस्या के साथ छोड देता है, जो अन्दर और बाहर के निहित स्वार्थों के द्वन्द्व के दबाव के कारण दिनोदिन अधिक जटिल होती जा रही है। सरचनात्मक परिवर्तन मे कम से कम धारणयोग्य गति और स्वीकारयोग्य दिशा लाना अनिवार्य है। साथ ही एक मानवीय और विचारवान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को स्थापित करना भी आवश्यक है।

**सरचनात्मक परिवर्तन :** जब कोई तीव्र, न रोकी जा सकनेवाली शक्ति किसी अकम्पनीय पदार्थ से टकराती है तो क्या होता है ? दार्शनिक इस गुत्थी को नहीं सुलझा सके हैं, परन्तु विकास के सन्दर्भ मे यह प्रश्न तात्कालिक उत्तर की अपेक्षा रखता है। यदि हम विकास के बारे मे गम्भीर हैं विशेषत गरीबी के उन्मूलन के बारे मे, जीवन की गुणवत्ता मे सुधार लाने और आय की विषमताओ को कम करने के बारे मे, तो सरचनात्मक परिवर्तन का कोई विकल्प नहीं है, परन्तु सरचना का केन्द्रीय भाग पिछले तीन दशको मे दुर्दमनीय तथा गतिहीन सिद्ध हुआ है। इसका परिणाम है गतिरोध, जो सन्तुलित विकास और उसके उत्पादो के न्यायसगत वितरण दोनो को अवरुद्ध किये हुए है। इस जिच के कारण बहुत सा वैकासिक प्रयास असफल हुआ है। इससे उपजनेवाले निवीर्य दु खद आघातो की शृखला विश्व को असन्तुलन से विनाश की ओर ले जा सकती है। हीला हवाली से काम केवल परिस्थिति को और दयनीय ही बनायेगा, अत किसी भी सार्थक नीतिगत ढाँचे को सरचनात्मक परिवर्तन उपलब्ध कराना ही होगा, इसे यथासम्भव सहज, पीडाहीन और आघात मुक्त रखते हुए।

सक्षेप मे, और कुछ स्पष्टवादी होते हुए कहा जा सकता है कि उत्पादन के सम्बन्धो के क्षेत्र मे आमूल परिवर्तन वांछित है। यह मार्क्सवादी ठप्पे को दुहराने जैसा लग सकता है, पर अभीष्ट लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए अमार्क्सवादी विकल्प

के मार्ग भी खुले हुए हैं। दक्षिणी कोरिया के बहुप्रशंसित आर्थिक चमत्कार का श्रेय काफी हद तक वहाँ के भूमि सुधारों और मानवीय पूंजी के निर्माण में विनियोग को जाता है। एक देश अपने विकास का जो भी रास्ता अपनाये, जनता भूमि सम्बन्धों को बदलना ही होगा। यह पाने के लिए एक खूनी क्रान्ति आवश्यक नहीं है दृढ़ता से किये गये भूमि सुधार वांछित लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। यह विलम्ब का अन्तराल जितना लम्बा खिंचेगा क्रान्ति का विकल्प उतना ही आकर्षक होता जायेगा। भूमि के पुनर्वितरण की सम्भावनाएँ कम खतरनाक हैं। व्यापक अनुभव यह सुझाता है कि थोड़ी भूमि की मात्रा भी विशेष स्थितियों में कृषि उत्पादन को बढ़ाने में योगदान कर सकती है। समूह और सहकारी संस्थाएं भी इसी परिणाम को प्राप्त कर सकी हैं हालाकि उनको बनाना तथा उनसे काम लेना सदैव आसान नहीं रहा है। लाभों को केवल बढ़े हुए उत्पादन की आर्थिक दृष्टि से ही नहीं नापा जा सकता मानव मूल्य के अर्थ को बढ़ानेवाले मनोवैज्ञानिक आयाम भी महत्त्वपूर्ण हैं। उपयोग में नहीं लायी गयी या उपयोग में कम मात्रा में लायी गयी भूमि क्रमशः पूर्ण क्षमतावाली बनाई जा सकती है, और इस प्रक्रिया में आय का अधिक समान वितरण प्राप्त किया जा सकता है।

इसी तरह औद्योगिक प्रबन्ध के ढांचे को भी अधिक सहभागी बनाना पड़ेगा। यहाँ भी कई सम्भव विकल्प उपलब्ध हैं और कई लाभों को देखा जा सकता है। प्रथम सहभागिता से अधिक औद्योगिक शान्ति और अनुशासन उत्पन्न होगा क्योंकि इसके द्वारा विचारपूर्वक सामूहिक सौदेबाजी सम्भव होगी। सहभागिता से उत्पादकता में भी वृद्धि होगी। सहभागिता तथा समतापरक मजदूरी के कुछ और भी लाभ हैं, जैसे श्रम शक्ति द्वारा कम खर्चीली पद्धतियों के विकास की दिशा में योगदान। सरचनात्मक परिवर्तन के उपाय द्वारा आय की विषमताओं की खाई को पाटने का प्रयास भी करना चाहिए तथा सहभागिता द्वारा अपेक्षाकृत सौहार्दपूर्ण वातावरण में उत्पादकता को बढ़ाना चाहिए। जब तक सरचनात्मक बदलाव नहीं आता, तब तक बहुचर्चित कार्य नैतिकता नहीं लाई जा सकती। इस क्षेत्र में नीति का प्रमुख मुद्दा सही मॉडल को अपनाना या विकसित करना और उसे कार्यक्षम बनाना है।

कार्य में सरचनात्मक परिवर्तन के प्रसंग में प्रविधियों और युक्तियों का भी प्रश्न उठता है। स्कैंडीनेविया से वियतनाम तक समतावादी समाजों के कई मॉडल उपलब्ध हैं। स्कैंडीनेवियाई देशों ने एक प्रजातान्त्रिक उद्विकासीय मार्ग अपनाया तथा रूस और चीन ने अपने लक्ष्यों को क्रान्ति के द्वारा प्राप्त किया। कुछ समाजों में साम्यवाद का चेहरा दूसरों की अपेक्षा अधिक मानवीय है। प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया द्वारा प्रभावी कार्यान्वयन तथा सक्षम संचार द्वारा समर्थित सोद्देश्य तथा दृढ़ कानून द्वारा काफी कुछ किया जा सकता है। क्रान्तियों की सम्भावना से इन्कार नहीं

किया जा सकता कम से कम अन्तिम अस्त्र के रूप म। दमनात्मक शासन तथा दृष्टिकोण और अशक्त प्रनातन्त्र इसक लिए रास्ता दत हैं। क्रान्ति की अवधारणा का अरहस्यीकरण भी आवश्यक है। क्रांति एक लम्बी और पीनागामी प्रक्रिया है वह कोई जादू की छडी नहीं है। रूमानी जोखिम लन की प्रवृत्ति स सफल क्रान्तियाँ नहीं हातीं। परिस्थितियाँ सही हानी चाहिए और दृढ़प्रतिज्ञ नतृत्व और समर्पित सहयोगी हाने चाहिए जा याजनाआ को इस तरह कार्यान्वित कर कि एक दशक म उसक परिणाम दिखने लग। उद्विकासीय या क्रान्तिकारी दाना ही मार्गों की कुछ मानवीय कीमत होती है। जनता की आवश्यकताओं क प्रति असवदनशील और प्रतिक्रियाहीन हाकर आडम्बरयुक्त निहित स्वार्थ अराजकता और सशय की स्थिति उत्पन्न कर सकते हैं। दिशाहीन क्रान्तिकारी उत्साह और अपरिपक्व कार्यवाही का भी ऐसा ही परिणाम हागा। दाना ही स्पृहणीय मूल्या का नष्ट करग और अधिनायकवादी या तानाशाही शासन का जन्म द सकते हैं। पिछला इतिहास इसका पर्याप्त साक्ष्य प्रदान करता है।

ऊपर सरचनात्मक परिवर्तन की सामान्य दिशा का सकत किया गया। प्राप्त किय जा सकनेवाल लक्ष्या का तय करना तथा उन्ह पाने की गति का निश्चय उन उपयुक्त तथा सजग तरीका स ही करना हागा जा सक्षम हैं परन्तु उपयोगितावाद का इस सन्दर्भ स बाहर नहीं किया जा सकता। यह उद्विकासीय और क्रान्तिकारी दाना ही विकल्पा क बारे म लागू हाता है। विश्वासा तथा विशिष्ट सास्कृतिक सवदनाआ का आदर देना हागा। परम्परागत सस्थाएँ समाप्त कर एक दशक म नयी वैकल्पिक सस्थाएँ नहीं बनाई जा सकतीं। सामाजिक परिवर्तन को सुस्थिर हान म तीन या अधिक पीढ़ियाँ लगती हैं। अनावश्यक जल्दबाजी विपरीत प्रभाववाली तथा स्वय का ही विफल करनेवाली सिद्ध हागी। ईरान का तल क युग स आणविक युग म शीघ्रता स प्रवश और उसका टूटना इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। लागा का खींचकर आग नहीं ल जाया जा सकता उन्ह साथ लकर चलना पड़ता है। इसम भी अच्छा यह हागा कि व स्वय यह तय कर कि व कहाँ जा रह हैं और व किस गति स चलना चाहत। परम्परा आधुनिकीकरण और विकास म बाधक है यह दृष्टिकाण अब स्वीकार्य नहीं है। परम्परा म बदलत माहौल के साथ अनुकूलन की अपार जीवनी शक्ति है और वह प्रगति का पाने की नयी दिशाओं का न्द कर सकती है। उपयागितावाद का इस बात की अनुमति नहीं मिलनी चाहिए कि वह अन्तिम लक्ष्या का कमजार बना दे हालाँकि विकास की रणनीति म कुछ असफलताएँ अनिवार्य और न्यायसगत भी हा सकती हैं। नीति की प्रक्रियाआ म साच और निरतरता का महत्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए।

सस्थागत परिवर्तन क प्रश्न क सरल समाधान सम्भव नहीं हैं। यह एक एसा समस्या क्षत्र है जा नीति निर्माता की विदग्धता का बहुत अधिक परीक्षण करता

है। सदिच्छावाली अनेक नीतियो के क्रियान्वयन को निहित स्वार्थो के जोरदार प्रतिरोध का सामना करना पडता है। तीसरी दुनिया का ताजा इतिहास ऐसे उदाहरणो से भरा पडा है कि किस तरह निहित स्वार्थो ने भूमि सुधारो को व्यर्थ कर दिया और सरचनात्मक परिवर्तनो की दिशा बदल दी है। ऐसा भारत पाकिस्तान और बाग्लादेश का अनुभव रहा है। सत्ता की रुचियाँ भी बाहर से आग मे घी डालने के काम मे कोई कसर नही छोडती हैं। आज की मतिभ्रष्ट और अनैतिक व्यवस्था मे सब कुछ सम्भव है। जो लोग मानव-अधिकारो के नाम पर बात करते हैं और प्रजातान्त्रिक आदर्शो का प्रतिपादन करते हैं वे भी तीसरी दुनिया के कुछ देशो मे प्रजातन्त्र को तोडने मे नही हिचके ओर उन्होने एसे तानाशाही शासनो के साथ चौकानेवाले पर सुविधाजनक गठजोड बनाये रखे जो मानवाधिकार या प्रजातन्त्र का कुछ भी आदर नहीं करते। वैचारिक साहचर्य और मानवीय करुणा के ऊपर *सत्ता का गणित हावी हो जाता है। इन कठिनाइयो के बावजूद सफल* विकास के लिए सरचनात्मक परिवर्तन की अनिवार्यता असन्दिग्ध है।

**जनसख्या-भोजन-ऊर्जा का अन्त सम्बन्ध** विकास को लेकर होनेवाली ताजी चर्चाओ मे विकास प्रक्रिया मे जनसख्या के परिवर्य को अपेक्षाकृत कम महत्त्व मिला है। *यह सही है कि बहुत सी निराशाजनक भविष्यवाणिया जैसे यदि* जनसख्या का विस्फोट होता रहा तो बहुत मे लोग भूखो मरेगे अधिकाश पर्यावरणीय समस्याओ के कारण जनसख्या बाहुल्य मे ढूँढे जा सकते है', और 'ज्यामितीय गति से बढती हुई जनसख्या को रोकने के लिए यदि जोरदार हस्तक्षेप नहा किया गया तो शीघ्र ही केवल खडे रहने भर को जगह बचगी समय के साथ खरी नही उतरी। जनाकिक भविष्य कथन तथा भविष्य की जनसख्या वृद्धि के अनुमाना मे गम्भीर त्रुटियाँ हुई हैं। 1798 म लिखते हुए **माल्थस** अपने इस सिद्धान्त मे गलत था कि जनमख्या खाद्यान्न आपूर्ति से बढ जायेगी। उसकी गलती यह थी कि उसने 18वी सदी की तकनीक को स्थिर माना और कृषि क्षेत्र म विज्ञान और प्रौद्योगिकी के सतत प्रयोग के कारण होनेवाले व्यापक परिवर्तना को नही पहचान सका। 1960 के अन्त मे नवमाल्थसवादियो ने एक व्यापक भुखमरी की भविष्यवाणी की जो आरम्भिक 1960 की तकनीक पर आधारित होने क कारण गलत सिद्ध हुई। आजकल एक नयी विचारधारा प्रबल है कि मानवता अपनी नियति को नियत्रित कर सकती है कि तकनीकी प्रतिबन्ध के कारण जनसख्या वृद्धि म हास हागा और तकनीक म अभूतपूर्व उन्नति हागी जा विश्व की भूख की चुनौती का उत्तर द सकेगी। दीर्घकाल म यह आशावादिता सही सिद्ध हा सकती हे परन्तु साम्प्रतिक सन्दर्भ इसक बारे म अभी भी सन्देह आर भय पैदा करता है। जनसख्या कायक्रम क सयुक्त राष्ट्र कोश क अनुसार इस सदी क अन्त तक विश्व की जनसख्या का अनुमान 1976 म लगभग 7 बिलियन किया गया था। **ग्लोबल 2000**

रिपोर्ट टुद प्रेसीडेन्ट भी इसी के निकट है, 1975 मे 4 बिलियन की विश्व-जनसख्या 2000 म अनुमानत बढकर 6 35 बिलियन हा जायगी। यह स्थिति 50% स अधिक की वृद्धि को दर्शाती है। अत परिस्थिति बहुत आशाजनक नहीं है। यदि 1975 म विश्व जनसख्या म 75 बिलियन की सख्या जुड़ी तो 2000 तक प्रतिवर्ष लगभग 100 बिलियन की वृद्धि होती रहगी। इसम खास और चिंताजनक बात यह है कि इस वृद्धि का लगभग 90% अत्यन्त गरीब देशा म हागा। तालिका 5 1 इस स्पष्ट करती है।

तालिका 6 1

विश्व मुख्य क्षत्र तथा चुन हुए देश की जनसख्या (मिलियन म)

| | 1975 | 2000 | वर्ष 2000 तक प्रति वर्ष वृद्धि | प्रतिवर्ष औसत प्रतिशत वृद्धि | वर्ष 2000 में विश्व की जनसख्या का प्रतिशत |
|---|---|---|---|---|---|
| विश्व | 4 090 | 6 351 | 55 | 1 8 | 100 |
| अधिक विकसित क्षेत्र | 1 131 | 1 323 | 17 | 0 6 | 21 |
| कम विकसित क्षत्र | 2 959 | 5 028 | 70 | 2 1 | 79 |
| **प्रमुख क्षेत्र** | | | | | |
| अफ्रीका | 399 | 814 | 104 | 2 9 | 13 |
| एशिया तथा ओशिनिया | 2,274 | 3 630 | 60 | 1 9 | 57 |
| लातीनी अमेरिका | 325 | 637 | 96 | 2 7 | 10 |
| सोवियत गणराज्य तथा पूर्वीयूरोप | 384 | 460 | 20 | 0 7 | 7 |
| उत्तरी अमेरिका पश्चिमी यूरोप जापान आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड | 708 | 809 | 14 | 0.5 | 13 |
| **चुने हुए देश तथा क्षेत्र** | | | | | |
| चीनी जन गणराज्य | 935 | 1 329 | 42 | 1 4 | 21 |
| भारत | 618 | 1 021 | 65 | 2 0 | 16 |
| इंडोनेशिया | 135 | 226 | 68 | 2 1 | 4 |
| बांग्ला देश | 79 | 159 | 100 | 2 8 | 2 |
| पाकिस्तान | 71 | 149 | 111 | 3 0 | 2 |
| फिलीपीन्स | 43 | 73 | 71 | 2 1 | 1 |
| थाईलैण्ड | 42 | 75 | 77 | 2 3 | 1 |
| दक्षिणी कोरिया | 37 | 57 | 55 | 1 7 | 1 |
| मिस्र | 37 | 65 | 77 | 2 3 | 1 |
| नाइजीरिया | 63 | 135 | 114 | 3 0 | 2 |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| ब्राजील | 109 | 226 | 108 | 2 0 | 4 |
| मैक्सिको | 60 | 131 | 119 | 3 1 | 2 |
| सयुक्त राज्य अमेरिका | 214 | 248 | 16 | 0 6 | 4 |
| रूस | 254 | 309 | 21 | 0 8 | 5 |
| जापान | 112 | 133 | 19 | 0 7 | 2 |
| पूर्वी यूरोप | 130 | 152 | 17 | 0 6 | 2 |
| पश्चिमी यूरोप | 344 | 378 | 10 | 0 4 | 6 |

**स्रोत** ग्लोबल 2000 टेक्निकल रिपोर्ट तालिका 2 10

इस स्थिति के नीतिगत तात्पर्य स्पष्ट हैं। तीसरी दुनिया को जनसख्या वृद्धि पर रोक लगाने के अपने प्रयासो को जारी रखना होगा। आशावादी भविष्यकथनो से हममे भ्रामक सुरक्षा की भावना पैदा नहीं होनी चाहिए। तात्कालिक रूप से तो जनसख्या नियन्त्रण क प्रयास मे कोई कमी नही आनी चाहिए। जनसख्या एक सम्भावनाओ से भरी सम्पत्ति है परन्तु इसके लिए कल्पनाशील नीतियाँ और उनका दृढ क्रियान्वयन आवश्यक है। वर्तमान सन्दर्भ मे बढती हुई जनसख्या एक दायित्व है।

बढती हुई जनसख्या के लिए भोजन की आवश्यकता होती है मानव आवश्यकताओ मे यह सबसे आधारभूत है। खाद्यान्न के व्यापक अभाव का भविष्य कथन भी गलत साबित हुआ है तथा कृषि की तकनीक मे हुई प्रगति से यह विश्वास बँधता है कि उपयुक्त शोध तथा उचित प्रबन्धन के द्वारा भूख का परिहार सम्भव है। तीसरी दुनिया के कई देशो मे 1959 75 की अवधि मे प्रति व्यक्ति उत्पादन दुगुना हो गया है। 1950 के बाद से प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उत्पादन मे 24% की वृद्धि हुई है। एशिया और लातीनी अमेरिका या तो इस देहली को पार कर गये हैं या पार करने की तैयारी मे हैं हालाँकि अफ्रीका के कई भागो मे स्थिति भयावह बनी हुई है।

आँकडे सदैव सम्पूर्ण सत्य प्रकट नहीं करते। बावजूद इसके कि व्यापक खाद्यान्न उत्पादन जनसख्या वृद्धि से थोडा अधिक हो चला है कई समस्याएँ अब भी बनी हुई हैं। इस समय तीसरी दुनिया मे 3 बिलियन लोगो के लिए भोजन की व्यवस्था करनी है सन् 2000 तक यह सख्या बढकर 5 4 बिलियन हो जायेगी। इस समय काम चलाने भर का खाद्यान्न उपलब्ध है और आनेवाले वर्षों मे स्थिति मे सुधार की सम्भावना है। जो लोग निरपेक्ष गरीबी मे रह रहे हैं उनके पास सामान्य कैलोरी और प्रोटीन की जरूरतो को पूरा करने के लिए अपेक्षित खाद्यान्न के क्रय के लिए ससाधन नही हैं। एशिया तथा लातीनी अमेरिकी देशो मे कृषि उत्पादन मे निश्चित वृद्धि हुई है और वृद्धि की दर 3% से बढकर 5% हो गयी है परन्तु वहाँ कुपोषण और भूख अभी भी प्रमुख समस्याएँ बनी हुई हैं। अफ्रीका और भी

दयनीय चित्र उपस्थित करता है। इस प्रायद्वीप पर देशो के एक बडे समूह की खेती के उत्पादन मे औसत वार्षिक वृद्धि जो 1960 मे 2 8% थी आज 1 4 पर आकर रुक गयी है। हालाँकि मक्का लगभग 40% अफ्रीकियो का प्रमुख भोज्य है शिकार तथा पशुपालन की प्राचीन अर्थव्यवस्था जो अभी भी बहुतो को आकर्षित करती है प्रतिवर्ग मील केवल 100 से 150 व्यक्तियो को ही आधार दे सकती है और इन क्षेत्रो की जनसख्या बढती ही जा रही है।

इस असगत स्थिति के कई कारण हैं। आधुनिक कृषि के लिए अपेक्षित साधनो भूमि पानी उर्वरक कीटनाशक उच्च पैदावारवाले अनाज की किस्म इन सबके भाव ऊपर उठते जा रहे हैं। इन सबका प्रतिफल इस समय प्रमुख खाद्यान्नो की ऊँची कीमतो के रूप मे देखा जा सकता है। बहुचर्चित बौद्धिक सम्पदा अधिकार इन कीमतो को और भी बढाएगा। इस कारण अति गरीबी मे रहनेवाला को पर्याप्त अन्न खरीदना और भी कठिन हो जाएगा। निकट भविष्य मे इस स्थिति मे सुधार की सम्भावना नही दिखती। सिचाई अधिकाधिक महँगी और कठिन होती जा रही है। एक अनुमान के अनुसार 394 मिलियन हेक्टेयर भूमि सिचाई के लिए उपयुक्त है किन्तु केवल इसके छठे भाग के लिए ही सिचाई की सुविधाएँ उपलब्ध हैं। इसलिए कृषि का अधिकाश भाग वर्षा पर निर्भर है। कम या ज्यादा वर्षा या गलत समय पर वर्षा उस वर्ष की फसल के लिए तबाही मचा सकती है। इसके कारण बाढ आ सकती है तीसरी दुनिया के बहुत थोडे से देशो के पास भरोसेमद बाढ नियन्त्रण योजनाओ के लिए अपेक्षित ससाधन हैं। यह स्थिति और भी जटिल होती जा रही है क्योकि कृषि उत्पाद को ऊर्जा के ससाधन के रूप मे बदलने की दिशा मे प्रयत्न हो रहे हैं। ये स्थानापन्न व्यवस्थाएँ खर्चीली हैं फिर भी वे ऊर्जा के कुल खर्च मे कुछ कटौती करती हैं। इसके अतिरिक्त अल्पसख्यक समृद्ध वर्ग की खानपान की बदलती हुई आदते गरीब वर्ग के लिए भोजन की उपलब्धता पर ऋणात्मक प्रभाव डाल रही हैं।

नीति के लिए इसके तात्पर्य स्पष्ट हैं। अधिक से अधिक भूमि को खेती योग्य बनाना होगा। एक अनुदार अनुमान के अनुसार तीसरी दुनिया मे लगभग 1000 मिलियन हैक्टेयर अछूती भूमि को कृषि कार्य के लिए उपयोग मे लाया जा सकता है। ऐसी जानकारी दी गयी है कि लगभग 2 220 मिलियन हेक्टेयर भूमि खाली पडी हुई है। अगले दो दशको मे 205 मिलियन हैक्टेयर अतिरिक्त भूमि को कृषि के अन्तर्गत लाना होगा। कृषि मे निवेश-उन्नत बीज उर्वरक सिचाई कीटनाशक और सयत्र आदि-को सतत शोध द्वारा घटाना होगा और कम खर्चीले विकल्पो को खोजना होगा। भण्डारण मे होनेवाले नुकसान को रोकना होगा। खाद्यान्न को समृद्ध लोगो की ऊर्जा की आवश्यकताओ को पूरा करने की दिशा मे ले जाने की अपेक्षा भोजन के रूप मे उसके वितरण को प्राथमिकता देनी होगी।

साथ ही बहुत गरीबी मे रहनेवालो की पैसा कमाने की क्षमता का बढाने के अवसर मिलने चाहिए ताकि वे न्यूनतम खाद्यान्न की आवश्यकताओ म कटौती करने पर बाध्य न हो। जनसख्या वृद्धि के अनुरूप खाद्यान्न मे वृद्धि लाने का निरन्तर युद्ध वैज्ञानिक प्रयोगशालाओ और प्रायोगिक भूमि खण्डो के लिए प्रमुख चुनौती प्रस्तुत करता है। इन प्रयासो को समर्थन देने और आगे बढाने के लिए अपेक्षित ससाधनो को बढाना होगा विस्तार के अभिकरणो को मजबूत करना होगा और जनता को खाद्यान्न के ठीक उपयोग के तरीको की शिक्षा देनी होगी। यद्यपि इन कदमो की सफलता तब तक सदिग्ध रहेगी जब तक कि इनके साथ आवश्यक सरचनात्मक परिवर्तन तथा दूरगामी भूमिसुधार नही किया जाता। अधिकाश विकासशील समाज इन क्षेत्रो म बडी धीमी गति से प्रगति कर रह हैं। खाद्य सुरक्षा विकास का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा सवदनशील क्षेत्र है जिसमे आत्मनिर्भरता पर बल दिया जाना चाहिए। जब पर्याप्त भोजन उपलब्ध नही रहता है तो राष्ट्रीय स्वाभिमान और प्रतिष्ठा को सबमे पहले धक्का लगता है। तीसरी दुनिया के नेताओ के वार्षिक कार्यक्रम मे अधिक खाद्यान्न की सहायता के लिए भीख मागने का नियमित कार्यक्रम नहीं होना चाहिए।

बढते हुए ऊर्जा सकट न विकसित और विकासशील दोनो तरह के देशो को हिलाकर रख दिया है। यहाँ तक कि कुछ अति औद्योगिकीकृत देश भी उस समय बाखला गये जब पेट्रोल की कीमते एकाएक बढी थीं हालाँकि विकासशील देशो को सर्वाधिक आघात लगा था परन्तु तीसरी दुनिया की आपसी एकता के हित मे वे विरोध भी प्रकट नही कर सके। केवल कुछ सीमित पेट्रोल ससाधनो पर और उसकी ऊँची कीमत पर ध्यान केन्द्रित करना ऊर्जा समस्या के मूल्याकन का ठीक तरीका नहीं है। पेट्रोल विश्व की कुल ऊर्जा की माँग का मात्र 40% ही पूरा करता है। पेट्रोल के कुओ के सूखने का कोई तात्कालिक खतरा नही है। वस्तुत मक्सिको तथा अन्यत्र नये ससाधन खोजे गय हैं और भारत जैसे अनेक देशो मे तेल की खोज का काम तेज कर दिया गया है। इन प्रयासो मे काफी सफलता पायी गयी है। बढती हुई कीमतो के बावजूद पिछले दशको म पेट्रोलियम अन्य विकल्पो की अपेक्षा अभी भी सस्ता है। ऊर्जा के अन्य स्रोत केवल सापेक्षिक अर्थ म ही कम मात्रा मे उपलब्ध हैं उनका और भी दोहन सम्भव है। परन्तु तब उनके उत्पादन की प्रति इकाई लागत बहुत बढ जायेगी। ऊर्जा की असली समस्या कहीं और है।

आज के विश्व मे ऊर्जा का उपयोग सामान्यत अनुपयोगी या अनुत्पादी है वह दीर्घ अवधि मे आर्थिक दृष्टि से असतुलनकारी तथा कई दशाओ मे पर्यावरण की दृष्टि से अनुपयुक्त हैं। ऊँचा उठता हुआ जीवन स्तर उपलब्ध ऊर्जा की आपूर्ति की घरेलू माँग को बढा देता है। इसका बहुत सा हिस्सा काफी हद तक घटाया

जा सकता है, इस दिशा मे तीसरी दुनिया को दृढतापूर्वक उपाय करने की व्यवस्था करनी होगी। उद्योग मे कम कीमतवाले ऊर्जा स्रोतो को अपनाना होगा। घरेलू और औद्योगिक क्षेत्र मे ऊर्जा का उपयोग इतना अधिक है कि कृषि क्षेत्र मे उपयोग के लिए उसका बहुत थोडा भाग ही बचता है। इस समय विश्व के वाणिज्यिक ऊर्जा उपयोग का लगभग 3 5 ही फसल और पशुधन के उत्पादन मे जाता है। 1972 73 मे विकासशील देशो को विश्व ऊर्जा की खपत का 18% भाग ही मिला था। इन देशो को उर्वरक, कीटनाशक कृषि यान्त्रिकी, सिचाई, खाद्यान्न को ससाधित करने तथा खाद्यान्न भण्डारण के लिए ऊर्जा की अधिक आवश्यकता है। यदि 3 7% की वाछित कृषि वृद्धि की दर प्राप्त करना है तो वाणिज्यिक ऊर्जा का 8% भाग कृषि क्षेत्र को देना होगा तथा एफ ए ओ अनुमान के अनुसार 1980 तथा 1990 के दशको मे यह मात्रा और बढेगी। जीवनरक्षा की मूल आवश्यकता के कारण खाद्यान्न उत्पादन के लिए कृषि क्षेत्र को ऊर्जा के उपयोग का इतना हिस्सा अवश्य मिलना चाहिए।

औद्योगिक प्रक्रियाओ को कम ऊर्जा के लिए उपयुक्त बनाने के लिए भी पुनर्विचार आवश्यक है। अधिक खर्चवाले तथा दुर्लभ ऊर्जा स्रोतो के बदले कम खर्च के ऊर्जा स्रोतो का उपयोग करना होगा। कई क्षेत्रो मे कोयले की ओर वापसी आवश्यक होगी ताकि अधिक खर्चीले जीवाश्म ईंधन को, खर्च कम करने की दृष्टि से, वहाँ उपयोग मे लाया जाये जहाँ उसकी आवश्यकता अधिक हो। ऊर्जा प्राप्ति के लिए खेती का उपयोग बढ रहा है। उदाहरणार्थ ब्राजील, अमेरिका और फिलीपीन्स गन्ना और मक्का की खेती को बढा रहे हैं जिससे मोटरो के लिए वैकल्पिक ऊर्जा स्रोत मिल सके। अकेले ब्राजील मे एक मिलियन हेक्टर भूमि पर गन्ना की फसल मात्र ऊर्जा विकल्प प्राप्त करने के लिए उगाई जा रही है। यह माना जा सकता है कि इसका कम-से कम एक हिस्सा विलासिता के उपभोग के लिए है न कि लोकोपयोगी कार्य के लिए। भूमि का उपयोग न होने के कारण ब्राजील इस कार्य के लिए भूमि उपलब्ध करा सकता है, परन्तु अन्य बहुत से देश ऐसा नहीं कर सकते। इस बात का ध्यान रखना होगा कि इस तरह का बदलाव तीसरी दुनिया की कठिन खाद्य सुरक्षा को ऋणात्मक रूप से प्रभावित न करे। फसलो के कचरे से, न कि उनके खाद्य भाग से, ऊर्जा पाने की नयी तकनीके खोजी जा सकती हैं।

भयभीत होने का कोई कारण नहीं है, ऊर्जा के नये स्रोत खोजे जा सकते हैं। परन्तु ऊर्जा के सरक्षण तथा मितव्ययितापूर्वक उसके उपयोग करने मे बहुत अधिक सतर्कता आवश्यक है। ऊर्जा की शक्ति सूर्य, वायु तथा तरगो से उपार्जित की जा सकती है। भू तापीय ऊर्जा भी उपयोग के लिए शेष है। सौर-ऊर्जा के उपयोग के क्षेत्र मे कुछ उपलब्धियाँ हुई हैं परन्तु आणविक ऊर्जा की ही भाँति

यह भी व्ययसाध्य है। वायु तथा तरंगों से ऊर्जा प्राप्त करने की तकनीक में भी कुछ प्रगति हुई है परन्तु ऊर्जा की कुल आवश्यकता में उसका योगदान बहुत थोड़ा है। नये ऊर्जा स्रोतों को प्राप्त करने के लिए शोध और विकास के प्रयासों को तीव्र करना होगा विशेषत उस प्रकार की ऊर्जा के लिए जिसके स्रोतों में उन्हें उत्पन्न करने की अपरिमित क्षमता हो। सम्भवत सबसे बड़ी समस्या घरेलू ईंधन की है। बिजली तथा पेट्रोगैस के उपयोग की प्रवृत्ति बढ़ रही है यह खर्चीली भी है और इसमें बर्बादी भी है। शहरी क्षेत्रों में मल और घरेलू कूड़े कचरे से गैस का विकास हो रहा है और ग्रामीण क्षेत्रों में बायोगैस से गैस पैदा की जा रही है। ये प्रयास अभी भी प्रायोगिक चरण में हैं और उनके लाभ बहुत उत्साहवर्धक नहीं रहे हैं। इस क्षेत्र में खोज को तीव्र करने की आवश्यकता है। मसलन नये वानिकी के कार्यक्रमों की योजना बनानी होगी ताकि ग्रामीण क्षेत्र घरेलू ऊर्जा के मामले में आत्मनिर्भर हो सकें जिसके अंतर्गत अधिकांश तीसरी दुनिया के देशों में लकड़ी का ईंधन आता है। चीन कोरियाई गणराज्य थाईलैण्ड तथा कुछ अन्य देशों ने इस क्षेत्र में सफल प्रयोग किये हैं। तीसरी दुनिया के कई अन्य देश सामाजिक वानिकी के कार्यक्रमों को आरम्भ कर रहे हैं।

ऊर्जा संकट की चुनौती का सामना किया जा सकता है परन्तु इसके लिए बहुत अधिक मानवीय उद्यम और प्रचुर निवेश की आवश्यकता होगी। उपलब्ध ऊर्जा स्रोतों के संरक्षण वृद्धि तथा अनुपूरण के लिए सरकारी व्यवस्था को सबल बनाना होगा और उसे बनाना भी पड़ सकता है। आहार की ही तरह ऊर्जा कार्यक्रम भी प्रतीक्षा नहीं कर सकते। वस्तुत ये दोनों ही बड़े जटिल रूप में परस्पर सम्बद्ध हैं।

**नियोजन तथा प्रशासनिक तंत्र का विकास** एक अच्छी नीति गलत साबित हो सकती है यदि इसे लागू करने की संस्थागत क्रियाविधि अनुपयुक्त अक्षम या भ्रष्ट हो। यहाँ पर विकास के लिए प्रारूप को परिभाषित किया गया है वह केवल सामाजिक या बौद्धिक चेतना के स्तर पर ही नहीं उस स्तर पर भी स्वीकृति की अपेक्षा करता है जहाँ यह नियोजकों तथा प्रशासनिक और कार्यान्वयन के अभिकरणों की मूल धारणाओं को प्रभावित करता है।

प्रशासनिक सेवाएँ जो औपनिवेशिक ढाँचे में गढ़ी गयी थीं अभी तक सच्चे अर्थ में नियोजन तथा सहभागी विकास की शैली तक आम जनता की पहुँच के दर्शन को स्वीकार नहीं कर सकी हैं न ही वे मानव संसाधनों के सक्रियकरण के विभिन्न आयामों और उसके परिणामों का ही सामना सकी हैं। उनके प्रति ईमानदारी बरतते हुए यह मानना पड़ेगा कि उन्हें कठिन परिस्थितियों और प्राय अपरिपक्व *राजनीतिक सत्ताधीशों की सत्ता की इच्छाओं के आगे झुकना पड़ा है ताकि वे* उन भूमिकाओं को निभा सकें जिनके लिए वे प्रशिक्षित नहीं हैं। वे विपरीत स्थितियों

द्वारा निरन्तर उत्पीडित भी किये जाते रहे हैं। सामग्री वितरण की व्यवस्याएँ समृद्ध हुई हैं और कुछ विशेष परिस्थितिया मे वे क्षमतापूर्वक कार्य भी करती हैं, परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि नौकरशाही आम जनता के लिए काम कर सकती है लेकिन जब इसे जनता के साथ या जनता के अधीन कार्य करना होता है तब इसके कई मानसिक अवरोध प्रकट होते हैं। इसे बदलना होगा। यहाँ तक कि सामग्री वितरण की व्यवस्याओ को भी नय दर्शन के अनुरूप ठीक करना होगा। नौकरशाही की सरचना म मध्यम तथा निम्न स्तर पर खामियाँ स्पष्ट रूप से उभरी हैं। वे विधिवत् पुनर्गठन, प्रशिक्षण तथा पुन प्रशिक्षण की अपेक्षा करती हैं। जब तक ऐसा नहीं होता है, धरती के स्तर से नियोजन (या नीचे से नियोजन) कभी भी सम्भव नहीं हो सकेगा और आम जनता की नियोजन तथा विकास तक पहुँच अवरुद्ध होगी।

तीसरी दुनिया के कई देशो ने नियोजन के शीर्ष स्तर पर उत्कृष्ट ढग से प्रशिक्षित विशेषज्ञो को स्थान दिया था। वे जटिल तकनीक तथा अर्थमिति जानते थे। दोष मात्र यह था कि वे या तो पश्चिमी उदार मॉडल की ओर झुकते थे या सोवियत मॉडल की ओर या हताशा के क्षणो म काम करने के चीनी ढग का अन्धानुकरण करते थ। उनके प्रयत्नो मे स्वेदशी सृजनात्मकता ज्यादा नहीं दिखती थी। अत्यधिक परिशुद्ध अर्थमितिक मॉडल, जटिल सास्कृतिक यथार्थ और उसके विशिष्ट सन्दर्भों को समझने मे असफल रहते हैं। नियोजन और विकास के श्रेष्ठ और तार्किक रूप से सगत मॉडल अनिवार्यत ऐसे नहीं होत जो अच्छे परिणाम दे सके। जनता की नब्ज समझने और उसकी जरूरतो के प्रति सवेदनशील होने से योजनाओ म यथार्थ और प्रासगिकता का भाव आ सकता है। भूमण्डलीय धरातल पर उदारीकरण की नीति, अपने पहल चरण मे, समस्याग्रस्त रही है।

यह उल्लेख किया जा चुका है कि योजना के अधिकाश दस्तावेज सम्प्रत्ययात्मक रूप से सुपरिभाषित तथा अच्छे आधारवाले होते हैं-यदि उनकी मूल स्थापनाएँ स्वीकार कर ली जाएँ। यद्यपि शीर्षस्थ नियोजक परियोजना निर्माण तथा परियोजना मूल्याकन के दुनियावी और नीरस काम नौकरशाही की कड़ी मे नीचे स्थित लोगो के हाथ छोड देते हैं। ऐसा करना प्राय अनुपयुक्त और दोषपूर्ण परिणाम देता है। समय के साथ परियोजना मूल्याकन की विधियाँ अधिकाधिक दुरूह हो गयी हैं और उनमे तकनीकी निष्पादन, तुलना, सहायक पूर्वानुमान पर्यावरणीय प्रभावो का मूल्याकन, तकनीकी तथा आर्थिक मूल्याकन, तकनीकी सामाजिक लागत लाभ की गणना, चुने हुए पक्षो का बहुअनुशासनिक विश्लेषण, बहु प्रभावो के मूल्याकन तथा अन्य प्रासगिक पक्षो का व्यापक मूल्याकन आदि भी जुड गये हैं। किन्तु यह सब कार्य अधिकतर अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणो या

है। उन्हे विभिन्न मात्राओ मे परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से उन सभी समस्याओ का सामना करना पडता है जो औद्योगिक रूप से उन्नत देशो के सामने हैं, परन्तु उन्हे इनके अतिरिक्त गरीबी के खतरे से भी जूझना है। उनके अन्दर बढती हुई कुठा विभिन्न प्रकार के हताश उपायो की खोज को जन्म देती है और बहुत सी अर्थहीन और ध्वसात्मक प्रवृत्तियो को पैदा करती है, जिन्हे केवल असहाय क्रोध की अभिव्यक्ति के रूप मे ही समझा जा सकता है। असन्तोष के प्रति सरकारे अब अधिकत्तर माफिया विधियो का प्रयोग कर रही हैं।

शासन की उलझन भरी समस्याओ के अन्तर्देशीय और अन्तर्राष्ट्रीय आयाम हैं। देश के अन्दर ये समस्याएँ अपेक्षित विकास न होने तथा इसके क्षीण और असमान प्रसार के कारण उत्पन्न होती हैं। गरीबी की राजनीति वस्तुत सीमित ओर कठिनाई से प्राप्त ससाधनो पर आधिपत्य स्थापित करने की राजनीति है। इसकी परिणति अन्तहीन और प्राय निरुद्देश्य सघर्ष के रूप मे होती है, जिसमे यह तय करना कठिन होता है कि कौन किसका शत्रु है। तथापि जैसे जैसे विकास की प्रक्रिया घटित होती है, विषमताएँ घटने के बदले बढती हैं। यह स्वय मे तनाव का कारण होता है, परन्तु समता की आवश्यकताओ को साथ मे रखकर देखने पर जो अभिजात वर्ग द्वारा घोषित हैं, यह कुठा की सम्भावना को बढाता है। लडाई वस्तुत निर्णय प्रक्रिया तक पहुँच और उसमे भागीदारी को लेकर है। इसी से महत्त्वपूर्ण रूप से जुडी स्वायत्तता की प्रबल इच्छा है जिससे जातीय तथा धार्मिक समूहो, अल्पसख्यका तथा बहुसख्यको, विकसित और अविकसित क्षेत्रो, स्त्री और पुरुष, पीढियो एव प्रबल तथा प्रतिरोधी सस्कृतियो के बीच युद्ध रेखा खिंच जाती है। गलत दिशा मे जाने के कारण आधुनिकीकरण बिना समानान्तर दायित्व के स्वतन्त्रता की भावना, बिना विश्वास के विकल्प और निजी हित से अत्यधिक सरोकार और सामूहिक हित की उपेक्षा को जन्म देता है। अभिजात वर्ग द्वारा प्रस्तुत उदाहरण, खासतौर से इसके नेताओ के एक वर्ग द्वारा, शायद ही श्रेष्ठ और प्रेरक कहे जा सके। उनकी कथनी और करनी के बीच उतनी ही बडी खाई रहती है जितनी उनके वायदे और कामयाबी के बीच। उनकी जीवन शैली शालीनता की सीमा से परे विलासितापूर्ण है। यदि यह अभिजात वर्ग और नेतृत्व आत्मविश्वास न जगा सके तो इसमे किसी को आश्चर्य नही होना चाहिए। लोकप्रियता की राजनीति प्राय अवसरवादिता की राजनीति हो जाती है। सरकारी नेतृत्व मे उस दृष्टि की कमी रहती है जो उभरती प्रवृत्तियो के पीछे निहित चेतावनी को पढ सके और जो समस्याओ के पूर्वानुमान तथा उनके समाधान के लिए अपेक्षित है। अन्त मे आम जनता अपने अधिकार की चेतना के अभाव मे अनिश्चित और सहारक ढग से कार्य करती है। वह भ्रमवश यह अनुभव करने लगती है कि केवल इसी तरह से उसकी बात सुनी जा सकती है। नेतृत्व उन्हे भेडो के झुड की तरह

चराना चाहता है जब वह नियन्त्रण खोता है तो झुड मतिभ्रष्ट सा बर्ताव करता है। चेतना के विस्तार की इस भय से उपेक्षा की जाती है कि वह नेतृत्व को वेपर्दा कर देगा और जनता सच्चाई जान जायेगी।

अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम तीसरी दुनिया के अन्दर उथल पुथल मचाने मे महत्त्वपूर्ण योगदान देता है जो अनिच्छा से ही एक या दूसरी महाशक्ति और उनके मित्र राष्ट्रो के हितो और द्वन्द्वो से जुड जाता है। जैसा कि गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का इतिहास बताता है महाशक्तियो के द्वन्द्व म तटस्थता के थोडे स लाभ अवश्य हैं पर उन्हे दण्डित होने के लिए भी तैयार रहना पडता है। अपने शासको के हित मे और थोडे और अस्थायी लाभो के लिए तीसरी दुनिया के कई देश इन शक्तिशाली देशो के गठबन्धनो की सदस्यता ग्रहण कर लेते हैं। यह दासता के निमन्त्रण को स्वीकार करने जैसी स्थिति होती है। जो अपने सामने फके गये आकर्षक प्रलोभन को अस्वीकार कर देते हैं वे अपने अनिश्चित भविष्य का अनुमान लगा सकते हैं, जो जान बूझकर लायी अस्थिरता विद्रोह और राजनीतिक हत्या के बीच कुछ भी हो सकता है। इस बीच विचारो पर नियन्त्रण के लिए लडाई अनवरत रूप से चलती है। विचारधाराएँ निर्यात के लिए भी होती हैं। कभी कभी वे आकर्षक परन्तु भ्रामक ढग से पैकेज मे रखकर प्रस्तुत की जाती हैं। विचारधारा और राष्ट्रीय हित के नाम पर सब कुछ, यहाँ तक कि ध्वसात्मक कार्य कलाप भी सही माना जाता है। कई प्रगतिशील राज्य कठिनाई से छिपाये जा सकनेवाले ब्लैक मेल तथा दबाव से रास्ते पर लाए जाते हैं, विलोप की सबसे निर्मम विधियो का उपयोग दूसरो के लिए किया जाता है। उपग्रहो द्वारा निगरानी के कारण महाशक्तियो और उनके प्रमुख सहयोगियो के लिए शायद ही कुछ गोपनीय बचता है। **सी आई ए, के जी बी** तथा उनके ही जैसे अन्य सगठनो द्वारा गुप्तचरी तथा प्रतिगुप्तचरी एक आम बात है। हमारे सास्कृतिक विचार क इतिहास मे शक्ति को इतना महत्त्व कभी नही मिला जितना कि आज प्राप्त है। अन्तिम विश्लेषण मे ये सभी कार्य अधिपति और अधीन के सम्बन्ध को बनाये रखते हैं तथा सही अर्थो मे मुक्ति के आन्दोलनो के, लगभग सदैव विपरीत जाते हैं।

बडी शक्तियो की ओर से दबाव के साथ साथ हमे उन विभिन्न राष्ट्र पारगामी आन्दोलनो की ओर भी ध्यान देना होगा जो सरकारो की समस्याओ मे नयी जटिलताएँ जोड देते हैं। आज मानवता महान् लक्ष्यो की खोज के दौर से गुजरती प्रतीत हो रही है और उन्हे पाने के लिए क्रातिकारी कार्यवाही की दिशा मे अग्रसर है। इनमे राष्ट्रपारगामी आन्दोलनो का धार्मिक और आध्यात्मिक महत्त्व हो सकता है या वे स्पष्टत क्रान्तिकारी राजनीतिक विचारधाराएँ हो सकती हैं। किसी भी स्थिति मे उनके प्रभाव उथल पुथल मचानेवाले होते हैं। पूर्व से पश्चिम को विभिन्न धार्मिक/आध्यात्मिक पथो का निर्यात–**महेश योगी** और उनका भावातीत ध्यान (टी

एम), आनन्द मार्ग तथा उसका प्राउत, हरे कृष्ण आन्दोलन, ओशो रजनीश तथा उनकी खास छाप की आध्यात्मिकता, जेन तथा तुरन्त निर्वाण दिलानेवाले नुस्खे–इन्हे प्राप्त करनेवाले देशो के लिए प्रभावहीन या अल्प परिणामवाली और निरर्थक घटना मानकर खारिज नहीं किया जा सकता। इनमे से कुछ के कारण थोडी गडबडी मचाने से लेकर काफी गम्भीर समस्याएँ तक पैदा हो रही हैं। इस्लामी विचारधारा के कुछ रूप कट्टरपथ से लेकर इस्लामी मार्क्सवाद भी निर्यात के लिए हैं। इनकी गुणवत्ता या दोष पर बिना किसी तरह की टिप्पणी किये हुए हम इनके सामाजिक परिणामो का अनुमान कर सकते हैं। भारत जैसे देश मे कट्टरपथी या क्रान्तिकारी इस्लाम का सिर उठाना जो विश्व मे मुस्लिमो की तीसरी सबसे बडी जनसख्या है, और जो धीमी गति से सास्कृतिक विविधता मे रच बस रही है और धर्म निरपेक्ष तथा प्रजातात्रिक राज्य व्यवस्था के साथ अभियोजित हो रही है, उद्वेगकारी तथा चिन्ता का विषय है। जहाँ तक क्रान्तिकारी विचारधाराओ का प्रश्न है, उनमे से चुनाव करने का एक विस्तृत क्षेत्र है। वे सामाजिक यथार्थ का एक आयाम प्रस्तुत करती हैं, जिसे बहुत थोडा समझा गया है किन्तु जो विकसित तथा अविकसित देशो की सरकारो द्वारा सामना की जानेवाली समस्याओ को बढाती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था छिन्न भिन्न है तथा और खराब होती जा रही है। मूलभूत गडबडी है ससाधनो के ऊपर असमान नियन्त्रण अर्थात् सत्ता का असमान वितरण। थोडे से लोग विश्व के ससाधनो की कुल आपूर्ति के अधिकाश भाग को नियन्त्रित करते हैं। जब तक उनका वितरण तार्किक तथा न्यायसगत आधार पर सगठित नही हो जाता, यह विश्व विवादास्पद स्थिति मे रहेगा। पिछले तीन दशको मे अधिक उद्योगीकृत देशो ने तीसरी दुनिया के लिए सहायता के रूप मे कुछ चारा फेंका है। यह चिन्तनीय रूप से अनुपयुक्त है। इस तरह का दान, जिसमे दाता प्राप्तकर्ता के लिए क्या ठीक है सबसे अच्छी तरह जानता है, विकासशील देशो की आवश्यकताओ का सही आकलन नहीं करता। यह दान भी अत्यल्प मात्रा मे दिया जाता है। इसने कुछ शासनो को अस्थायी तौर पर स्थिर तो किया, किन्तु सही अर्थ मे किसी विकास को लाने मे वह असफल रहा। तीसरी दुनिया इस तरह के दानवाली सहायता के बारे मे सही मायने मे चिन्तित है। विश्लेषको के कुछ स्पष्टवादी समूहो ने यह दिखाया है कि पश्चिम की अधिकाश औद्योगिक समृद्धि मुख्यत तीसरी दुनिया के ससाधनो के क्रूर दोहन पर बनी है। ससाधनो के अन्तरण की माँग यदि पुनरुद्धार के लिए नहीं तो क्षतिपूर्ति के लिए आवश्यक है।

इस दलील मे सत्य है, पर इसे एक सीमा के आगे नहीं ले जाया जा सकता। किस तरह से समृद्ध और शक्तिशाली देशो को अपने पूर्वज देशो के शोषणात्मक क्रियाकलापो की क्षतिपूर्ति के लिए तैयार किया जाएगा ? यह अधिक तर्कसगत

दलील होगी कि ससाधना का अन्तरण एक स्थायी विश्व व्यवस्था के हित मे है। ससाधना का बडी मात्रा म अन्तरण जीवनरक्षण के लिए आवश्यक हो गया है पर हम इसे कैसे प्राप्त करेंगे ? सहायता और व्यापार अनन्त वाद विवाद का विषय रहा है जिसमे काफी वाक्पटुता का दुरुपयोग किया गया है। आमना सामना होने से गर्मी बहुत पैदा हुई है पर रोशनी कम। वार्ता चलनी चाहिए पर इसके साथ कार्यवाही भी होनी चाहिए। इस बीच औद्योगिक दृष्टि म उन्नत देश समुद्र के व्यापक ससाधनो पर भी अपना अधिकाधिक हक जताने लगे हैं–समुद्रो मे स्थित ससाधना पर और अटार्कटिक पर विद्यमान ससाधनो पर भी। यदि उन्ह कोई तरीका मिल जाता तो महाशक्तिया बाह्य आकाश को भी अपने बीच बाट लेतीं। ससाधना के बटवारे या तीसरी दुनिया के उत्पादो के लिए उचित कीमत देने की बात होती है तो समृद्ध देश अनजान बने हुए कहते हैं कि उनकी अर्थव्यवस्था खराब स्थिति मे है उनके यहा मन्दी है मुद्रास्फीति और बेरोजगारी है। तीसरी दुनिया भी इन समस्याओ की उपस्थिति को पहचानती है परन्तु इनके कारणा का विश्लेषण दूसरी तरह करती है। विकसित विश्व शस्त्रास्त्रों का अम्बार बढाने के लिए प्रचुर वित्तीय सहायता चालू रखे है पर जब व्यापक विकास के लिए ससाधनो के अन्तरण की बात आती है जिसम अत्यन्त गरीबी मे रहनेवालो को लाभ होगा तो अपने पैर पीछे खीच लेते है। विकासशील और विकसित देशा के बीच आर्थिक शक्ति तथा सैन्य बल विज्ञान तथा तकनीकी एव रहन सहन के सामान्य स्तर के क्षेत्र मे खाई बढती ही जा रही है।

उत्तर दक्षिण वार्ता तथा टकराव दोनो ही व्यर्थ सिद्ध हुए हैं। परस्पर निर्भरता का एक समानता पर आधारित तथा न्यायपूर्ण ढाँचा कहीं नजर नहीं आता। तीसरी दुनिया के आधारित एकता के भुलावे के पास कोई सामूहिक शक्ति नहीं है। विकासशील देशा म एकता नहीं है। एकता के इस अभाव का समृद्ध और शक्तिशाली देश लाभ उठाते हैं। सामूहिक कार्रवाई की क्षमता के अभाव के कारण तीसरी दुनिया का अधिकाश अलाप व्यर्थ जाता है। तेल के उदाहरण न एक हद तक शक्तिशाली दल को हिला दिया परन्तु यह अभी तक अस्पष्ट है कि यह उदाहरण तीसरी दुनिया द्वारा निर्यात की जानेवाली अन्य वस्तुआ पर कितना लागू होता है। तीसरी दुनिया को आपसी भेदभाव को दूर कर महाशक्तियो के प्रलोभन का प्रतिरोध करना चाहिए जो स्वय विनाश के हथियारों को बाँटना चाहते हैं ताकि तीसरी दुनिया युद्ध के खेल मे फँसी रहे। राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता तथा तीसरी दुनिया के आन्तरिक सहयोग की योजनाओ को मजबूत करना होगा। तीसरी दुनिया की सस्थाओ की शृखला की एक व्यापक योजना जिसमे प्रथम तथा द्वितीय विश्व की भागीदारी हो और जिसका लक्ष्य उचित विकास हो को स्थापित करना होगा। एक सीमित क्षेत्र मे युनाइटेड नेशन्स यूनिवर्सिटी के द्वारा एक विनम्र प्रयास का

श्रीगणेश हुआ है। लेकिन साथ ही अनुकरण न करनेवाल विकास के मार्गों को जो देशी सृजनात्मकता को प्रोत्साहित करते हैं खोजकर सबल बनाना होगा। तीसरी दुनिया की दशाओं के लिए सर्वथा उपयुक्त एव प्रासंगिक वैकल्पिक जीवन शैलियो को प्रोत्साहित करना होगा।

परिवर्तन क प्रबन्धन जैसे अनजाने क्षेत्र मे कोई निश्चित उत्तर नहीं दिये जा सकते। उन्हे प्रयासपूर्वक खोजना होगा। यह एक नीतिगत आवश्यकता है कि इसे अवश्य आरम्भ किया जाए और चालू रखा जाए।

जुटाने की है। साथ ही उन्हे समाज के विचारशील और सक्रिय सदस्य बनाने तथा कुछ आधारभूत सस्थाओ की पुनर्रचना की है, जिससे कि उनकी निष्पादन-क्षमता बढ सके।

**चेतना का विस्तार** • शक्ति और विकास के बीच का सम्बन्ध, तीन दशको की सैद्धान्तिक स्थापना और गम्भीर शोध, जो तात्कालिकता की भावना से सम्पृक्त रहा है, अभी भी एक अस्पष्ट क्षेत्र बना हुआ है। इसमे जहाँ एक ओर मुद्दो को इधर उधर घुमाने की प्रवृत्ति है जिसमे राष्ट्रीय अभिजात वर्ग के विचारो पर बल है या फिर यह आशावादी धारणा है कि कार्य योजना उचित समय पर सत्ता सरचना को उनके पक्ष मे मोड देगी, जिनकी विकास की जरूरते सबसे अधिक हैं। हमे यह जानने के लिए किसी प्रकार की व्यापक और गहरी खोज की आवश्यकता नहीं है, हमे समझना होगा कि सत्ता तथा तकनीक का चुनाव, आय का वितरण, कल्याणकारी सेवाओ का विस्तार और निर्णय लिये जाने की गति के बीच कौन से प्रमुख रिश्ते हैं। सभी सरकारे घोषित करती हैं और, दिखावे के तौर पर ही सही, जनता के नाम पर और उसके लाभ के लिए काम करने का दावा करती हैं, परन्तु अनुभव बताता है कि नीति निर्माण और उसके कार्यान्वयन दोनो मे ही समाज मे वर्चस्ववाले अभिजात वर्ग के ही पक्ष का पलडा भारी रहता है। गर्जन तथा आक्रामकता का रुख अपनानेवाले वर्ग, अभिव्यक्ति की विकसित क्षमता के कारण इस अर्थ मे लाभ पानेवाले बन जाते हैं कि विकास के कुछ थोडे से लाभ उन्हे भी मिल जाते हैं। आम जनता, जिसके नाम पर सभी राजनीतिक घोषणापत्र तैयार होते हैं और जिसकी उन्नति, ऊपरी तौर पर ही सही, सभी राजनीतिक मचो का मुख्य मुद्दा रहता है—लम्बी कतार के अन्तिम छोर पर खडी रहती है और कृपा के रूप मे कुछ टुकडे उसके आगे फेक दिये जाते हैं।

यह सिद्ध हो चुका है कि निरपेक्ष गरीबी तीसरी दुनिया के देशो मे विशेषत एशिया और पेसिफिक क्षेत्रो मे, सार्थक रूप से कम नहीं हुई है। ऐसी ही खराब हालत लातीनी अमेरीकी देशो मे है, और अफ्रीका का हाल सबसे खराब है। विश्वसनीय तथा व्यापक रूप से स्वीकृत अनुमानो के अनुसार निरपेक्ष गरीबी मे रहनेवालो की सख्या 800 मिलियन के करीब है, इनमे से तीन चौथाई एशिया के ग्रामीण क्षेत्रो या शहरी गन्दी बस्तियो मे रहते हैं। ये वे विपन्न और नीचे दर्जे के लोग हैं जिनके लिए विकास के कार्यक्रम मे आकर्षक आशाएँ थी, पर जिनमे से कोई भी पूरी न हो सकी। उनके कल्याण के लिए महत्त्वाकाक्षी कागजी खाके बनते हैं पर उन्हे इन योजनाओ की विषय सामग्री के बारे मे कुछ कहने की गुजाइश बहुत कम रहती है। मूक और चकित वे अपने नाम पर चल रहे नजारे को देखते हैं, अभिजात वर्ग उनकी जरूरते और उन्हे पूरा करन के तरीके तय करते हैं।

गरीबी एक अपनी निजी सस्कृति को जन्म देती है जो प्रबल अल्पसख्यक

समूह के उपग्रह की तरह काम करती है और जिसका प्रमुख लक्ष्य स्थापित और पनप रहे अभिजात वर्ग के लिए न्यूनतम दर पर सुख सुविधा मे योगदान करना होता है। **विश्व विकास प्रतिवेदन** 1980 बहुत कम सन्तोष देता है जब वह यह कहता है

> विकासशील देशो मे सामूहिक स्तर पर निरपेक्ष गरीबी म रहनेवाले लोगो का अनुपात पिछले दो दशको म घटा है परन्तु जनसख्या मे वृद्धि के कारण निरपेक्ष गरीबी मे रहनेवाले लोगो की सख्या बढ गयी है।

विश्वविकास प्रतिवेदन म की गयी भविष्यवाणी सही प्रतीत होती है। इसके अनुसार सामना की जानेवाली बाधाओ को देखते हुए निम्न आयवाले देशो से निरपेक्ष गरीबी को इस सदी के अन्त तक समाप्त करना असम्भव है। यदि सम सामयिक प्रवृत्तियो को सकेतक माना जाये तो यह दशा अगली सदी क मध्य तक और उसके आगे भी बनी रहेगी। समानतावादी तथा समाजवादी नारो के बावजूद निर्णय प्रक्रिया मे आम जनता अभी भी सीमान्त पर ही है। जनतन्त्र क दावो के बावजूद केवल बहुसख्यक वर्ग से ही आज्ञापालन की आशा की जाती है। यहा तक कि ऐसे देशो मे भी जिन्होने शोषक वर्ग व्यवस्था को नष्ट कर दिया है यह खुला प्रश्न है कि जनसाधारण उन महत्त्वपूर्ण निर्णयो मे जो उनका भविष्य निर्धारित करते हैं कितने सहभागी बनते है।

एक क्षीण और लघुकाय व्यक्ति–**पालो फ्रेर**–लातीनी अमेरिका मे गरीबो की दुर्दशा से विचलित हुआ। वहाँ की जनता दुःख और कष्ट को अपनी नियति मान बैठी थी और अपनी वचित और हीन स्थिति के लिए स्वय को कुछ भी न कर सकने की स्थिति मे पा रही थी। उसने मानव स्थिति पर विचार किया और विशेषत लातीनी अमेरिकी गरीबो की शिक्षा को एक नया प्रकार्य चेतना विस्तार दिया जो उसकी पुस्तक **पेडागाजी आफ द आप्रेस्ड** का केन्द्रीय विषय है। उसकी सोच मे शिक्षा का कार्य व्यक्ति समूह और समुदाय को उनके सवानात्मक क्षितिज को विस्तारित कर उन्हे अपनी स्थिति और उसके कारणो के बारे मे जागृति पैदा कर उनमे चेतना लाना था। उसने अपनी नयी क्रान्तकारी शिक्षा पद्धति मे कुछ छोटे प्रयोग किये जो उन देशो मे असुविधाजनक पाये गय जहा वे किये गये। यह एक साहसी और प्रशसनीय कदम था। यह एक भिन्न मुद्रा थी जो ऐसी शिक्षाविधि को स्थापित कर सकती थी जिससे मानसिकता मे बदलाव आए आर सत्ता सन्तुलन का झुकाव गरीबो की ओर हो। फ्रेर एक से दूसरे देश मे जाता रहा और एक ऐसे परिवेश को तलाशता रहा जिसमे उसके विचारो पर प्रयोग हो सके। परम्परागत रूप से तटस्थ स्विट्जरलैंड मे स्थित अपने मुख्यालय से फ्रेर ऐसे अतिथियो की ओर नजर गडाये रहा जो उसके नवाचारी विचारो की प्रशसा

करन स आग बढ़कर उन्हें व्यवहृत रूप दन का अवसर द।

अपन बढ़ग हान क बावजूद चेतना विस्तार का शब्द स्थापित हा गया इसकी मूल अवधारणा बाद म परिष्कृत तथा परिवर्धित हुई। अब एस अनक लाग हैं जा यह मानत हैं कि यह सम्प्रत्यय सही अर्थो म आम जनता क विकास की सही कुजी है।

गरीबी की सस्कृति चेतना विस्तार क सम्प्रत्यय का स्पष्ट करन के पूर्व गरीबी की सस्कृति का समझन की दिशा म थाड़ा विचार आवश्यक है। इसक कारणा और पारिणामा क बार म गलत धारणाओ क कारण एक त्रुटिपूर्ण विकास घटित हुआ है। सबकुछ के बावजूद द गरीब लाग ही हैं जिन पर अधिकाश विकास-कार्य केन्द्रित हैं और यह जानना जरूरी है कि उनकी विशिष्ट सास्कृतिक सरचना म कौन स तत्त्व हैं जा परिवर्तन क अवयवा का आत्मसात करने म बाधा डालत हैं ना उनकी जीवन की गुणवत्ता म सुधार लान क लिए आवश्यक हैं।

बहुत दिना तक व्यवहार विज्ञान अपन विश्लषण म यह दृष्टि अपनात रह कि गरीब-अमीर के बीच अन्तर अवश्य है पर उसका कोई खास महत्त्व नहीं है। विकास का प्रक्रिया जिस रूप म प्रस्तावित और सामान्यत स्वीकृत थी इस दूरी का कम करन क लिए बाध्य थी। एक सीमा तक असमानता स्वाभाविक थी केवल इसकी कटुता का ही कम करना था। शहरी गरीबा क समूह को गहराई में जाकर समझन और लातीनी अमरिका म गरीबी की सस्कृति क परिणामों का अध्ययन आस्कर लेविस न किया। उनक द्वारा गरीब तबक क व्यक्तियो और परिवारा का ना आँख खालनवाला और विलक्षण अकन किया गया है वह बड प्रभावशाली ढग स यह दर्शाता है कि किस तरह गरीबी मानवता क एक बड़े हिस्स का निरर्थक और अमानवीकृत कर देती है। लेविस क अध्ययना का केन्द्र अधिकाशत शहरी गन्दी बस्तियाँ थीं जा लातीनी अमरिका क विभिन्न देशा म समृद्धि की सुरम्य अट्टालिकाओ क साथ साथ खड़ी हैं परन्तु गरीबी की सस्कृति क सम्प्रत्यय का व्यापक महत्त्व है और आशिक रूप म ही सही यह कार्य गरीबी और उसक परिणामा का अन्यत्र भी समझन म सहायक है। व अपनी अध्ययन विधि का विस्तार स वर्णन करत हैं और सावधानीपूर्वक अपन द्वारा अध्ययन किय गय गरीबा का आलख प्रस्तुत करत हैं।

आस्कर लविस क व्यापक कार्य (विशषत 1966) तथा उनकी आलाचनाओ अन्य लागा द्वारा इस विषय क विवचन तथा लीड्स (1971) का आधार बनाकर गरीबी की सस्कृति की प्रमुख विशषताओ का रखाकित किया जा सकता है।

गरीबी की सस्कृति म कुछ विशषताएँ लगभग सार्वभौमिक रूप स पायी जाती हैं जीवन विस्तार अपक्षाकृत कम हाता है मृत्यु दर अधिक हाती है युवा वर्ग का अनुपात अधिक हाता है पुरुष और स्त्री दाना ही काम करत हैं इसलिए

ऐसे लोगो का अनुपात भी जो नौकरी पेशा हैं अधिक होता है। उनकी विश्व दृष्टि प्रादेशिक तथा स्थानीय (दृष्टिवाली) होती है। जनसमुदाय का यह भाग राष्ट्रीय सस्थाओ के नेटवर्क मे आशिक रूप से ही जुडा होता है शिक्षा और साक्षरता का स्तर निम्न होता है वे न तो सघो मे सगठित होते हैं न ही राजनीतिक दलो के सदस्य होते हैं। सामाजिक सुरक्षा की योजनाएँ जैसे स्वास्थ्य की देखभाल मातृत्व या अन्य सुविधाएँ उनके लिए उपलब्ध नहीं होती और वे शहर के अस्पताल डिपार्टमेट स्टोर सग्रहालयो और वीथिकाओ का कम उपयोग करते हैं।

व्यापक परिप्रेक्ष्य मे देखने पर इन विशेषताओ मे कुछ परिवर्तन रेखाकित किया जा सकता है। मेहनत मजदूरी करनेवाले वर्ग मे बच्चो और स्त्रियो को निम्नस्तरीय भारी और उबाऊ काम दिये जाते हैं और उन्हे कम मजदूरी मिलती है। निम्नस्तरीय शिक्षा और साक्षरता शिक्षा के अनुपयोगी स्वरूप खराब शैक्षिक सुविधाओ और अनिवार्य शिक्षा के प्रावधानो को निष्प्रभावी ढग से लागू किया जाना उन्हे नौकरी और व्यवसाय के अच्छे अवसरो से कटा रखते हैं। शहरी गरीब और कुछ हद तक गाव का गरीब भी अब अपने सघ बना रहा है पर सघ बहुत से हैं और वे प्राय एक दूसरे के विपरीत काम करते हैं जिससे वे प्रभावशाली नहीं रह जाते। एक व्यापक दृष्टि के अभाव मे अधिकाश सघ कुछ छोटे और अल्पावधि के लक्ष्यो को ही प्राप्त कर पाते हैं। राजनीतिक दल गरीबो को वोट बैंक मानते हैं और हर राष्ट्रीय चुनाव के पहले उनकी काफी आवभगत की जाती है। लोकप्रिय नारो और क्रान्तिकारी वादो की आँधी चुनाव खत्म होते ही थम जाती है और गरीब पूर्ववत् उपेक्षा के शिकार बने रहते हैं। यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये गरीब दलो के निर्णयवाले स्तरो तक नहीं पहुँच पाते और उनके घोषणा पत्रो मे सार्थक परिवर्तन नहीं ला पाते। नियोजन प्रक्रिया तक उनकी पहुँच न होने से प्राथमिकताएँ असन्तुलित और सुधार अवाछित और अप्रासगिक हो जाते हैं। सामाजिक सुरक्षा के उपाय प्रस्तुत किये जा रहे हैं और गरीबो के लिए सामाजिक सेवाओ का विस्तार भी हो रहा है गरीब उनका लाभ लेना चाहते हैं पर उन्हे जो दिया जा रहा है वह ऐसा बेमानी और उसे पाना इतना जटिल है कि गरीबो को अपने प्रयत्नो पर ही निर्भर रहना पडता है।

आइए लेविस की अवधारणा और उनके द्वारा प्रस्तुत आर्थिक विशेषताओ की सूची की ओर लौटे। ये हैं जीवनरक्षा के लिए सतत सघर्ष बेरोजगारी तथा सीमित न्यून रोजगार अकुशल पेशो के लिए कम मजदूरी बाल-श्रम बचत की अनुपस्थिति रुपयो (कैश) की निरतर कमी घर मे खाद्यान्न सग्रह का अभाव आवश्यकता के अनुसार बार बार भोजन की अल्प मात्राओ मे खरीदारी बहुत ऊची ब्याज की दरो पर स्थानीय साहूकारो से रुपयो की उधारी पडोसियो द्वारा उधारी के सहज अनौपचारिक तरीके तथा दूसरो के द्वारा उपयोग मे आ चुके

(उतरन) कपडो और फर्नीचर का उपयोग। थोडी-बहुत क्षेत्रीय और सास्कृतिक भिन्नता के साथ ये विशेषताएँ लगभग सार्वभौम रूप से पायी जाती हैं।

लेविस के अनुसार कुछ सामाजिक और मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ गरीबी की सस्कृति की विशेषताएँ बन जाती हैं। अपनी जरूरतों के कारण लोगो को भीड भरे घरो मे रहना पडता है। इसके दुहरे परिणाम होते हैं, जहाँ सामान्य निजता की कमी होती है, समूहचारिता बढती है। झगडो को सुलझाने के लिए बार बार हिंसा पर उतर आना पडता है। मद्यपान बहुत बढ जाता है और बच्चो के प्रशिक्षण तथा पति की इच्छा का पालन करने के लिए पत्नी को बाध्य करने मे यौनाचार का आरम्भ जीवन मे शीघ्र हो जाता है ओर विवाह सम्बन्ध मे मानदण्डो को तोडना सहजता से क्षम्य होता है। वैवाहिक सम्बन्ध दुर्बल होता है, एक दूसरे को छोड देना और तलाक सामान्य बात है। माताओ और बच्चो के परित्याग की घटनाएँ भी अपेक्षाकृत अधिक होती हैं। सामान्यत बच्चो पर केन्द्रित परिवार और माता के सम्बन्धियो के साथ निकटता अधिक होती है। एकाकी परिवार की सख्या बढने के साथ साथ परिवार की एकजुटता पर अधिक बल दिया जाता है। सामान्यत पारिवारिक सरचना प्रभुतावादी है, हालाँकि मतभेद ओर विचलन को सुलझान के तरीके मौजूद हैं।

उपर्युक्त विशेषताएँ लातीनी अमेरिका के शहरी गरीबो के लिए सही हो सकती हैं पर इन्हे सार्वभौमिक नहीं कहा जा सकता। इनमे से कुछ विभिन्न मात्राओ म गरीबी की सस्कृति को अन्यत्र भी व्यक्त करती हैं, परन्तु अन्य सास्कृतिक सन्दर्भ और गहरी परम्पराएँ उन्हे सार्थक रूप से बदल देती हैं।

अन्त मे लेविस की सूची की कुछ अन्य विशेषताओ पर भी दृष्टिपात किया जाए। गरीबी की सस्कृति मे तात्कालिक और वर्तमान पर जोर देने की प्रबल प्रवृत्ति होती है–तत्काल सन्तुष्टि को रोकने तथा भविष्य की योजना बनाने की क्षमता की कमी, आत्मसमर्पण की भावना और जीवन की कठिन परिस्थितियो के कारण भाग्यवादिता, पुरुष की उन्नमता मे विश्वास, स्त्रियो मे आत्म बलिदान की प्रवृत्ति तथा हर तरह के मनोवैज्ञानिक विकारो को सहने की उच्च क्षमता। इसके अतिरिक्त गरीबी की सस्कृति मे रहनवाले व्यक्ति प्रबल वर्ग के कुछ मूल्यो और सस्थाओ के प्रति आलोचनात्मक रुख अपनाते हैं। सरकार और उच्च पदस्थ लोगो पर भरोसा नहीं होना और कटुता धार्मिक सस्थाओ और शिक्षा तथा स्वास्थ्य की धर्मनिरपेक्ष सेवाओ तक फैली होती हैं। लेविस के बाद के शोध मे विशेषताओ की एक अतिरिक्त सूची मिलती है। इसके अन्तर्गत सीमान्तता की तीव्र अनुभूति, असहायता, कहीं पर न जुड पाने का भाव, बिलगाव, यह अनुभूति कि सस्थाएँ उनकी रुचियो और आवश्यकताओ को पूरा नहीं करतीं, शक्तिहीनता की भावना, हीनता, व्यक्तिगत अयोग्यता, इतिहास का अत्यन्त सीमित बोध, प्रतिबन्धित दृष्टि,

केवल अपनी स्थानीय या पडोसी दशाओ और अपनी जीवन शैली तक सीमित ज्ञान दृष्टि या आदर्श जिसके कारण विश्व के उन जैसे अन्य समूहो के साथ समानता देखना कठिन हो जाता है वर्गचेतना का अभाव तथा स्तर भिन्नता के प्रति सवेदनशीलता। दरअसल ये विशेषताए गरीबी की सस्कृतियो मे विश्व के लगभग हर हिस्से मे दिखती हैं हालाँकि इनकी अभिव्यक्ति विभिन्न सास्कृतिक आयामो मे अलग हो जाती है।

**लेविस** का विश्लेषणात्मक वर्णन चाहे कितना ही उत्कृष्ट हो वह यह नही बता पाता कि गरीब क्यो गरीब हैं और क्यो उनके ऐसे ही बने रहने की सम्भावना है। उनके विश्लेषण अनैतिहासिक हैं और शोषण तथा दमन की सरचनाओ के जन्म जिससे व्यापक गरीबी और मानव स्तर से निम्न जीवन यापन की स्थिति उत्पन्न हुई है की जाच नही करते। वे शक्तिवान की पीडादायक प्रवृत्ति की भी व्याख्या नही कर पाते जिसके कारण गरीब अपना स्तर ऊचा नही उठा पाते। उनके लेखन मे कही भी यह बात खुलकर नही उभरी है कि गरीबी स्वय-आरोपित पीडा नही है और जिसे गरीब की जन्मजात कमियो मे नहीं देखा जा सकता। यह अटूट चक्र तोडा जा सकता है पर **लेविस** के पास ऐसा करने के लिए कोई ठोस सुझाव नही है। वे यह सुझाव नही दे पाते कि दमन और पीडा की सरचनाएँ कैसे मिटाई जा सकती हैं और गरीबो को कैसे नया जीवन दिया जा सकता है। वे यह भी सकेत नही करते कि ऐसा चेतना के विस्तार तथा जन सामान्य की सक्रियता से हो सकेगा। सक्षेप मे हम उनसे प्रभावशाली और गहराई तक झकझोरनेवाला विवरण पाते हैं पर पहचान और पूर्वकथन की दृष्टि से उनके शोध मे *कार्ययोजना के लिए कोई सकेत नही मिलता।*

**चेतना का विस्तार क्या है ?** चेतना विस्तार को सज्ञानात्मक और मूल्यपरक परिष्कार की प्रक्रिया के रूप मे समझा जा सकता है विशेष रूप से ससार के गरीबो के बीच। यह व्यक्ति को अपने पर्यावरण तथा मानव स्थिति साथ ही उन शक्तियो को जो आज के विश्व को गढ रही हैं पर विचार करने की समझ देता है। इसमे विशेष रुचि के केन्द्र हैं सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक हलचलें जो सामाजिक व्यवस्था की असमानताएँ तथा अन्यायो को जन्म देती हैं। व्यक्ति प्रश्न पूछना शुरू करता है क्यो ? कैसे ? इसके बाद फिर क्या ?

इस तरह का वैचारिक प्रयास आशा की जाती है कि इस अनुभूति को बढायेगा कि वचित होना और उसकी पीडा ईश्वरप्रदत्त नहीं हैं। न ही एक समूह के रूप मे गरीबो मे कोई जन्मजात कमी है। धीरे धीरे गरीब शोषण और दमन की सरचनाओ का विश्लेषण करेगे जिनसे मानवता का एक बडा हिस्सा इस विडम्बना का शिकार हुआ है।

लोग अपने भाग्य पर अपने आपको नही छोडेगे और न ही अपनी स्थिति

को अपरिवर्तनीय तथा अपरिहार्य मानेगे। इतिहास के विकसित विचार के साथ और मुद्दो तथा वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के जटिल दाँव पेच की सटीक चेतना के आधार पर वे यह विश्वास विकसित करेगे कि मानवीय हस्तक्षेप परिस्थिति को बदल सकता है और इतिहास की प्रक्रियाएँ तीव्रतर की जा सकती हैं। वे उन्हे इस विश्वास की दिशा मे उन्मुख करेगी कि ये विकल्प उन्हे मनोवाछित भविष्य की ओर ले जाएँगे और जीने की नयी शैलियाँ उपलब्ध हैं।

उन्हे यह भी पता होना चाहिए कि सामाजिक विसगतियो को केवल इच्छा मात्र से दूर नहीं किया जा सकता और न ही किसी जादुई छडी से समाप्त किया जा सकता है। सामाजिक प्रक्रियाओ और उनकी आन्तरिक गतिविधि की सचेत समझ के आधार पर वे सभी तात्कालिक रामबाण उपायो को अविश्वसनीय मानेगे। वे सत्ता मे स्थित तथा सत्ता पाने के इच्छुक दोनो के वायदो और काम का ठीक ठीक मूल्याकन करेगे। इस तरह राजनीतिक दल भी उन्हे बेवकूफ नहीं बना सकेगे। सचेत नागरिकता ही सहभागी जनतन्त्र की अच्छी गारटी हो सकती है, चाहे वह जिस किसी भी राजनीतिक नाम से हो।

महत्त्वपूर्ण निर्णय प्रक्रियाओ मे बिना किसी हिस्से या आवाजवाले लोग अपने मत पर जोर देने लगेगे और अपने को अभिव्यक्त करेगे—आवश्यकता पडने पर कठोर और सीधे प्रहार की शब्दावली मे। वे अपने लिए वाछित भविष्य की अवधारणा समझ जाएँगे और उसकी एक व्यापक रूपरेखा उपाय, चरण और सोपान समेत उन्हे मिलेगी।

अन्तिम विश्लेषण मे चेतना का विस्तार स्वायत्त व्यक्तियो को पैदा करेगा जो राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक समाज के साथ अपने सम्बन्धो को पहचान सकेगे, समझ सकेगे और स्वीकार कर सकेगे। वे विचारशील व्यक्ति होगे जो सहभागी स्वभाव और रचनात्मक कार्योन्मुखतावाले होगे। वे दायित्वपूर्ण चयन करने म सक्षम होगे और उनमे उस चयन प्रक्रिया को निभाने की आन्तरिक शक्ति और आत्मानुशासन होगा। वे सच्चे अर्थों मे होमो फावर होगे। जिस सीमा तक नीति निर्माण और कार्यान्वयन मे सार्थक हस्तक्षेप आवश्यक होगा वे राजनीतिक होगे। फलत राजनीति की विषयवस्तु और गुणवत्ता मे परिवर्तन होगा, क्योकि नयी मनोवैज्ञानिक विशेषताओ की यह माँग होगी।

मुक्ति के लिए शिक्षा को इस प्रकार चेतना विस्तार के अवयवो को अपने आप मे समाविष्ट करना होगा। समृद्ध और अधिक भाग्यवान लोगो के लिए भी चेतना विस्तार की आवश्यकता होगी। व्यापक जनसमुदाय के कष्टो के प्रति सतत सवदेनशून्यता सामाजिक व्यवस्था के सन्तुलन को गडबडा सकती है जिसके फलस्वरूप उन्हे भी काफी नुकसान हो सकता है। विकसित होती हुई नयी सच्चाई के साथ अनुकूलन अपेक्षाकृत कम पीडादायी विकल्प होगा।

**चेतना के विस्तार को कैसे प्राप्त करें ? :** चेतना-विस्तार के सम्प्रत्यय को और भी परिष्कृत किया जा सकता है और एक अधिक सुरुचिपूर्ण और जटिल सैद्धान्तिक रचना प्रस्तुत की जा सकती है, पर यह काम प्रतीक्षा कर सकता है क्योंकि ये दोनों ही किसी सम्प्रत्यय की उपयोगिता और सक्रियात्मक सुविधा को आवश्यक रूप से निर्धारित नहीं करते। चेतना-विस्तार किस तरह लाया जाए ? यह प्रश्न कठिन और थकरा देनेवाला है। संस्थाएँ तथा उपकरण जो पूरी प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं, उन निहित स्वार्थों द्वारा नियन्त्रित हैं जो किसी भी तरह गरीबों और निम्न वर्गवालों के जीवन को सुधारने के पक्ष में नहीं हैं। चेतना विस्तार के सम्भव परिणामों और सम्भावनाओं से वे भयभीत हैं और उसे अपने से दूर रखने का यत्न करते हैं।

विद्यालय की शिक्षा व्यवस्था यथास्थितिवाद को बनाये रखने के लिए तत्पर है। जैसा कि इवान इलिच (1971) ने मर्मस्पर्शी ढंग से कहा है–विद्यालय की प्रक्रिया का लक्ष्य एक ऐसा उत्पाद ढालना है जो उपभोक्ता समाज और सामाजिक व्यवस्था में पूर्वनिश्चित भूमिकाओं और संस्थितियों के लिए समर्पित हो। "ऐसी प्रक्रिया गैर-उपभोक्तावाद को बढ़ाने या सामाजिक व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन में मददगार नहीं होगी।" इससे भी खराब बात तो यह है कि चेतना-विस्तार के लिए शिक्षा की बात तो दूर, पहली पीढ़ी के शिक्षा प्राप्त करनेवालों को सामान्य विद्यालय में विषयों का चुनाव करने के कोई सार्थक विकल्प नहीं हैं। इस दिशा में कुछ क्रान्तिकारी शैक्षिक बदलाव आवश्यक है। पर इस क्षेत्र में प्रश्न यह है कि क्या विद्यमान शक्तियाँ उसे पनपने का अवसर देंगी ?

जनसंचार माध्यमों ने शैक्षिक नीतियों और लक्ष्यों के बारे में उनसे की गयी आशाओं और अपेक्षाओं को झुठला दिया है। सिनेमा और दूरदर्शन पलायनवादी मनोरंजन के माध्यम बन गये हैं, न कि वास्तविक जनशिक्षा के उपकरण। जब ये माध्यम व्यावसायिक रुचियों द्वारा नियन्त्रित होंगे तो यह स्वाभाविक है कि वे अपने स्वामियों के हितों की पूर्ति करें। राज्य-नियन्त्रित होने पर वे प्रायः सत्ता में स्थित वर्ग को स्वर देनेवाले यन्त्र का कार्य करते हैं। यहाँ पर यह भी जोड़ा जा सकता है कि उनके प्रभावशाली उपयोग का प्रश्न मात्र काल्पनिक है, क्योंकि जहाँ तक गरीबों का प्रश्न है, ये उच्च और मध्यम वर्ग के माध्यम हैं न कि जनसंचार के माध्यम। यही बात समाचारपत्रों पर भी लागू होती है। नियन्त्रित करनेवाले हित उनके नीति-निर्देशकों को तय करते हैं। व्यापक निरक्षरता की स्थिति में, कुछ समय के लिए ही सही, ये अप्रासंगिक हो जाते हैं क्योंकि उनका प्रभाव निश्चय ही कम होगा। कम आयवाले देशों में संचार-नीतियों को, धीमी गति से ही सही, एक नयी दिशा दी जा सकती है, पर यह सन्दिग्ध है कि थोड़े समय में ही वास्तविक चेतना-विस्तार की दिशा में कोई बड़ी उपलब्धि हो सकेगी।

राजनीतिक दलो और सगठित यूनियनो की एक निश्चित और सकारात्मक भूमिका है हालाँकि उनका काम अब तक बहुत प्रभावशाली नहीं रहा है। वे अस्पष्टताओ और अन्तर्विरोधो से ग्रस्त हैं। गरीबी की चिन्ता तीसरी दुनिया के लगभग सभी देशो के सभी राजनैतिक दलो का मुख्य राग हो गया है, पर इस तरह की लोकप्रियता पानेवाली भावभगिमा और वायदे अक्सर राजनीतिक नुस्खे ही साबित होते हैं। हितो पर आधारित जो सगठन बनते हैं वे या तो समाज मे सत्तावर्ग के साथ गन्दे गठजोड मे पड जाते हैं या फिर एक छोटे वर्ग की इच्छा को व्यक्त करने तक सीमित हो जाते हैं। इनमे से कुछ सगठित रुचियाँ अपने-आप मे बहुत अच्छा कार्य करती हैं पर ऐसा करने मे वे कम भाग्यशाली लोगो तक लाभो को न पहुँचने देने मे जोर शोर से लगे रहे हैं।

यहाँ पर यह बात जोर देकर कही जा सकती है कि समाज की व्यापक और दीर्घकालिक रुचियो को ध्यान मे रखकर चेतना विस्तार के पक्ष मे सरकारी हस्तक्षेप वाछित और आवश्यक है। विचारशील और सचेत व्यक्ति सामाजिक लक्ष्यो और उन्हे पाने के तरीको के प्रति एक अनुशासनपूर्ण रवैए को स्वीकार करने के लिए अधिक तत्पर होगे। दीर्घ अवधि मे यह शासन प्रक्रिया को जो हर बीतते साल के साथ क्रमश जटिल और कठिन होती जा रही है, सरल बनायेगा। यदि ऐसा कभी होता है तो राज्यो द्वारा चलाई जानेवाली शैक्षिक और सचार व्यवस्थाओ को उनसे प्राप्त होनेवाले परिणामो को नयी दिशा दी जा सकेगी। पर इस दिशा मे उठनेवाले कदम निश्चित ही धीमे, सन्दिग्ध और अनिश्चयी होगे। अधिकाश सरकारे सार्थक और धारणयोग्य भविष्य के लिए कठोर विकल्प के बदले सरल विकल्पो को चुनना पसन्द करती हैं। निकट दृष्टि के दोष से ग्रस्त वे चेतना विस्तार के ऋणात्मक पक्षो को देखती हैं और उसकी धनात्मक सम्भावनाओ की उपेक्षा करती हैं। आरम्भ मे यह निश्चय ही उथल पुथल मचानेवाला कदम होगा, पर ऐसा केवल अस्थायी तौर पर ही होगा। इसके दीर्घकालिक लाभ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और वे निश्चय ही फलदायी होगे। यदि एक नयी समाज व्यवस्था लाने की हमारी इच्छा मे ईमानदारी है, तो चेतना विस्तार अनिवार्य है। तीसरी दुनिया की सरकारो को यह पहचान लेना चाहिए।

स्वैच्छिक सगठन, जो सम्भवत चेतना विस्तार के सबसे शक्तिशाली उपकरण हैं, विकसित करना भी जरूरी होगा। इस काम का आकार इतना बडा है कि इसके लिए जोरदार जनआन्दोलन की आवश्यकता है। सौभाग्य से, परोपकार का भाव अभी जीवित है और सेवाभाव से काम करने के लिए प्रेरित उत्साही कार्यकर्ताओ का मिलना असम्भव नहीं है। ऐसे प्रच्छन्न व्यक्तियो को पहचानना होगा और उन्हे सगठित तथा सोद्देश्य काम करने की दिशा मे लगाना होगा। इस दिशा मे किये जानेवाले किसी कार्यक्रम की पहल करने से पहले सावधानी से

योजनाएँ बनानी होगी।

आज की परिस्थिति असीमित रूप से जटिल और समाधानविहीन लगती है परन्तु गरीबी की प्रकृति को समझना और उसके कारणो और उसे दूर करने के सम्भव तरीको के बारे म मौन का षड्यन्त्र तोडना होगा। इस दिशा मे चेतना का विस्तार एक उपाय है पर इसको संचालित करनेवाली क्रियानिधि को भी तय करना आसान नही है।

**एक भिन्न प्रकार की शिक्षा** चेतना विस्तार को औपचारिक शिक्षा को नीचा दिखाने का प्रयास नही समझना चाहिए। शिक्षा विकास का निमित्त भी है और द्योतक भी। यह विकास के लिए पर्याप्त दशा न होने पर भी आवश्यक है। विकास की प्रक्रिया म निहित नाना प्रकार के कार्य प्रशिक्षित क्षमता और व्यापक तथा भिन्न भिन्न क्षेत्रो मे विशेषज्ञता की अपेक्षा करते हैं। इस अर्थ मे शिक्षा मे गुणवत्ता वाछित है। वस्तुत इसे बिना किसी कमी के उत्साहपूर्वक आगे बढाना होगा।

साथ ही शिक्षा के प्रसार स्वरूप और उसके सामाजिक परिणामो को भी ध्यान मे रखना होगा। वर्तमान व्यवस्था अत्यन्त प्रतिबधित है और इसके लाभ स्वाभाविक रूप से समाज के सुविधासम्पन्न वर्ग के पक्ष मे अधिक जाते हैं। गरीब और सुविधाहीन लोगो के लिए या तो कोई शिक्षा ही नही है या फिर उन्हे नाममात्र की शिक्षा मिलती है। इन वर्गो मे से कुछ समूह सचेत होकर शिक्षा के अवसर पाने का प्रयास करते हैं पर उनकी प्रेरणा कदाचित् ही सही अर्थो मे सीखने की इच्छावाली दृष्टि की होती है। उनमे से अधिकाश के लिए शिक्षा एक प्रतिष्ठा का चिह्न है या वह समाज मे ऊपर उठने का साधन होती है। जो नीचे के 40% से थोड़ा ऊपर हैं–शिक्षा को नयी परिस्थितिया जैसे प्रशासन और विकास कार्य से जुडे अधिकारी वर्ग के साथ सवाद करने मे या आधुनिक कृषि की विधियो मे अपेक्षित समयबद्धता और तीक्ष्णता बनाये रखने मे सहायक पाते हैं। समाज का निचला तबका अधिकाशत इसके प्रति तटस्थ रहता है क्योकि शिक्षा उनकी रोजमर्रा की जिन्दगी की समस्याओ का कोई हल नही देती और इसकी विषय सामग्री उनके जीवन के व्यापक सन्दर्भ से नहीं जुडती। शिक्षा सामाजिक कारको और उन शक्तियो जो समाज मे ऊपर उठने के गरीबो के स्वप्न को अप्राप्य बना देती हैं के षड्यन्त्र को तोडने मे कुछ खास मदद नहीं देती हैं। एक प्रकार के विकास के बारे मे सोचते समय हमे उसके साथ साथ एक दूसरे प्रकार की शिक्षा के बारे म भी सोचना होगा। विकास के क्षेत्र मे विकल्पो पर विचार शिक्षा मे विकल्पो पर विचार की अपेक्षा करता है।

इस दावे के बावजूद कि शिक्षा बराबरी पैदा करनेवाला तथा गतिशीलता को तेजी से बढानेवाला कारक है पाया यह गया है कि वह समाज मे विभाजन के असमान स्वरूप को बनाये रखने मे बहुत योगदान करती है। शिक्षित लोग

कुछ क्षेत्र मे अपने वर्गहित और लाभो की क्रूरतापूर्वक रक्षा करने के लिए दृढप्रतिज्ञ पाय जाते हैं। यह बात भी अच्छी तरह ज्ञात है कि शिक्षा शारीरिक और मानसिक श्रम के बीच एक कृत्रिम और सामाजिक रूप से घातक भेद करती है। जहाँ तक गरीबो का प्रश्न है, शिक्षा का एक अलगाववादी प्रभाव है। यह शिक्षितो को उनकी परम्परागत जडो से काटती है। वे नयी अस्मिता खोजने या बनाने लगते हैं। यह उन व्यक्तियो के हित मे हो सकता है, पर सामान्य समुदाय आमतौर पर इसकी आलोचना करता है, क्योकि उसे इससे बहुत थोडा ही लाभ मिल पाता है। अत वैकल्पिक शिक्षा व्यवस्था को यह सुनिश्चित करना होगा कि उसके उत्पाद समुदाय के साथ सावयवी सम्बन्ध बनाये रखे। जो वस्तुत गरीब हैं वे शिक्षा को एक निरुद्देश्य विलास मानते हैं, क्योंकि इससे स्कूली आयु के बच्चो की आमदनी कम हो जाती है चाहे वह कितनी भी कम क्या न हो।

समानता और सामाजिक न्याय के विचार दूसरी शिक्षा को उचित ठहराते हैं, जो वर्तमान ढाँचे को वचितो और विपन्नो के हित म क्रान्तिकारी रूप से बदलेगी। नयी शिक्षा नीतियो का एक मुख्य अवयव सकारात्मक कार्यवाही होगी—या सकरात्मक भेदभाव होगा—उनके पक्ष मे जो अब तक शिक्षा के लाभो से वचित रखे गये हैं। शिक्षा को प्रभावशाली बनाने के लिए शिक्षा प्रक्रिया मे नवाचारो की शृखला की आवश्यकता होगी। अकादमिक अध्ययन के महत्त्व को कम कर शिक्षा को लोगो की जिन्दगी से तथा उनके व्यापक जीवन सन्दर्भो से सरोकार बढाना होगा। वर्तमान व्यवस्था अत्यन्त प्रतियोगितावादी है, नयी व्यवस्था को अप्रतियोगितावादी होना पडेगा और हमे उसे सहयोग के चतुर्दिक गढना होगा। इसी तरह नयी व्यवस्था व्यक्ति-केन्द्रित नहीं होगी, उसे अन्त क्रियात्मक और समूह केन्द्रित होना पडेगा। उसे विविध प्रकार के व्यक्तियो और समूहो, दोनो को मुक्त रूप से अभिव्यक्ति और सृजनात्मकता का अवसर देना होगा। इसके अन्तर्गत सदैव समस्या समाधान की क्षमताओ पर विशेष बल देना होगा। इसमे एक नयी समाज व्यवस्था के लिए वाछित मूल्यो को भी समाविष्ट करना होगा, खासतौर पर कार्य और वितरण की एक नयी नैतिकता को। यह विद्यार्थियो को अपने परिवेश और असन्तुलनो और अन्यायो पर विचार करने और उनके समाधान पाने के लिए समर्थ बनायेगी। यदि नयी शिक्षाविधि इस लक्षण से जुडती है तो हम समाज मे सही अर्थ मे सीखने की नैतिकता के उद्‌भव की आशा कर सकेगे।

यह समस्या का एक पहलू है, दूसरा है व्यापक स्तर पर निरक्षरता। ऐसा अनुमान किया गया है कि पूरे विश्व मे लगभग एक बिलियन लोग निरक्षर हैं, इनमे से 100 मिलियन तीसरी दुनिया मे रहते हैं। यहाँ पर यह भी जोडा जा सकता है कि लगभग 100 मिलियन लोग अमेरिका और यूरोप मे प्रकार्यात्मक रूप से निरक्षर हैं, पर उनकी उपस्थिति तीसरी दुनिया को किसी तरह की सान्त्वना

नही दे सकती। इस गिरी हुई हालत का क्या कारण है ? कम वित्तीय प्रावधान ? खराब शिक्षा ? दी जा रही शिक्षा की अप्रासंगिकता ? प्रतिबद्धता की कमी ? या यह सब कुछ तथा कुछ और भी ? चीन का अपवाद छोडकर प्रौढ शिक्षा के कार्यक्रम खर्चीले और दुस्साहसी काम ही सिद्ध हुए हैं। ऐसा लगता है कि तीसरी दुनिया के नेतृत्व के मन मे यह भय छिपा है कि जनशिक्षा से सामाजिक उथल पुथल मचेगी हालाँकि वे इसे खुलकर व्यक्त नही कर पाते। ऐसे सन्देह यदि बने रहे तो सीमित निकटदृष्टिदोष के लक्षण हैं। निरक्षरता की उपस्थिति विकास की प्रक्रिया को रोकेगी और बाधित करेगी साथ ही प्रतिमानो की सरचना को कमजोर करेगी। कमजोर प्रतिमान और उनके दूषित कार्यान्वयन से सामाजिक अव्यवस्था ही पैदा होगी। इन देशो मे चेतना विस्तार के अभाव मे राजनीतिकरण भयकर त्रासदी को जन्म दे सकता है। चेतना विस्तार तथा शिक्षा एक ही सिक्के के दो पहलू होने चाहिए। एक को दूसरे से अलग नही किया जा सकता और जब तक दोनो को विकास के लक्ष्यो की प्राप्ति से नही जोडा जायेगा न्याय के साथ प्रगति हमसे दूर ही रहेगी।

**सकारात्मक कार्रवाई** विकास और आधुनिकीकरण की एक प्रमुख विडम्बना यह है कि इसके लाभ असमान रूप मे वितरित होते हैं सम्पन्न और भी सम्पन्न होते हैं और विपन्न और भी विपन्न। पिछले तीन दशको का अनुभव यह रहा है कि जहाँ गरीबी की सामान्य मात्रा बढी है कुछ धनी और भी धनाढ्य हो गये हैं। इन दोनो के बीच के तबके को भी कुछ लाभ पहुचा है पर यह सब अच्छे जीवन के कुछ प्रतीको के रूप मे ही है जो सच्ची तथा भरोसेमन्द सुरक्षा नही देते। तीसरी दुनिया के अधिकाश देशो मे विकास के लाभो का एक बहुत बडा भाग शक्तिसम्पन्न और प्रभावशाली लोगो के हिस्से पडा है अत्यन्त जरूरतमन्द को नाममात्र के लाभ से ही सन्तोष करना पडा है। ऐसा इसलिए है कि आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक सस्थाओ का समाज के ऊपरी तबके के पक्ष मे पलडा भारी होता है। निरन्तर असन्तुलन की स्थिति अधिकाश जनता का विकास प्रक्रिया मे विश्वास उठा देती है। कुठा बढती है और तनाव बनने लगता है।

मुक्त प्रतियोगिता के रूप मे आर्थिक अवसरो की समानता यथास्थितिवाद को ही बढाती है यदि वह विपन्नो की तुलना मे समृद्ध लोगो के पक्ष मे ही सन्तुलन रखती है। समाज मे विद्यमान विषमताओ के कारण 'एक आदमी एक वोट' का विचार मात्र एक कहन की बात रह गयी है। यह केवल जनता को शक्ति प्रदान करता है उसका सार तो उससे वापस ले लिया जाता है। वे एक सरकार को हटाकर उसके बदले मे दूसरी सरकार स्थापित कर सकते हैं पर इस प्रक्रिया मे सरकार की वर्ग सरचना और हित मे खास बदलाव नही आता है। समाज मे विभाजन के सरूप पूर्ववत् बने रहते हैं असमानता और अन्याय ही आम जनता

की नियति रहती है। गरीबो मे भी जो अत्यन्त गरीब होते हैं उनकी हालत सबसे खराब होती है प्रगति की हवा उनसे हाकर गुजरती है पर उनके दुख दर्द को बिना किसी सार्थक रूप मे कम किये हुए। इस धरती के निकृष्ट लोगो म से भी निकृष्ट लागो के लिए सकारात्मक कार्रवाई सुनियाजित भेदभाव की नीति विभिन्न देशा द्वारा विभिन्न मात्राओं में अपनायी गयी है।

लक्ष्य समूह तीसरी दुनिया के अधिकाश देशा म प्राय गरीबी को समाप्त करना विकास कायक्रमा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हिस्सा माना गया है और वह होना भी चाहिए कुछ उदाहरण विशेष उल्लेख की अपेक्षा करते हैं। मनुष्य स निम्न स्तर का उनका जीवन स्तर तात्कालिक और तीव्र गति के सुधार के उपाय की अपेक्षा करता है। वे कुछ ऐसी विशिष्ट सामाजिक श्रेणियाँ हैं जो अत्यधिक सास्कृतिक वचन की शिकार रही हैं और आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रो म सदियो पुराने भेदभाव की तकलीफ झेल रही हैं। अपने सामान्य आर्थिक पिछडेपन के अतिरिक्त ऐसे कई समूह किसी न किसी तरह के सामाजिक लाछन के भी पात्र हाते हैं। यहाँ तक कि सयुक्त राज्य अमरिका जैसे अतिविकसित देशा म काले (नीग्रा) केवल आर्थिक दृष्टि से ही हीन नहीं हैं बल्कि उन्ह सामाजिक अपमान के विविध रूपा को भी झलना पड़ता है। अमेरिकी इंडियन और लातीनी मूल के प्रवासिया की स्थिति अपेक्षाकृत ठीक है। भारत मे अस्पृश्यता कानून द्वारा समाप्त कर दी गयी है पर यह कानूनी प्रयास इसके शिकार लोगो के निम्न सामाजिक स्तर को सार्थक रूप से ऊँचा नहीं उठा सका है। अब स्त्रियाँ यौन-आधार पर होनेवाले भेदभाव को पहचानती हैं और यौन सम्बन्धी हीनता को ठीक करने का उत्सुक हैं।

अमरिका म नीग्रो अमेरिकी इडियन स्पेनिशभाषी अल्पसख्यक समूह जा मध्य तथा दक्षिणी अमेरिका स उत्तरी अमरिका आ गये हैं क प्रति सकारात्मक भेदभाव किया जाता रहा है। ये सभी समूह कुछ विशेष तरह की हीनताआ से ग्रस्त रहे हैं और ऐसी समस्याएँ उत्पन्न करते हैं जिनकी जडे केवल गरीबी मे नहीं देखी जा सकतीं। दूसरी आर भारत जैसे एक निम्न आयवाले देश में ऐसी कई सामाजिक श्रेणियाँ हैं जा आर्थिक दृष्टि से हीन और सामाजिक रूप से लांछित हैं पहले के अस्पृश्य अनुसूचित जनजाति या आदिम जाति और कुछ पिछडे वर्ग। मलयेशिया म ओराग असली एसी समस्याएँ प्रस्तुत करते हैं जो विश्व के विभिन्न भाग के आदिम जाति के लागा के लिए प्राय एक जैसी हैं पर एक बडी भारी समस्या मूल मलय जनसख्या म दिखती है। भूमिपुत्र जो हालाँकि सख्या की दृष्टि स ही (कुछ) बहुमत म हैं चीनियों के साथ आर्थिक विकास की गति से मेल नहीं खा पाते। चीनी समुदाय देश का सबसे बड़ा जातीय और सास्कृतिक अल्पसख्यक वर्ग है। भूमिपुत्रों मे चीनी और भारतीय मूल के लोगा से शिक्षा की

लड़ाई हार जाने का भय बना हुआ है जिसके कारण नौकरीपेशा मे उच्च स्थान पर पहुँचने के अवसर उनके लिए कम हैं। गरीबी तीनो जातीय समूहा मे विद्यमान है और उस पर ध्यान दिया जा रहा है भूमि पुत्र के पक्ष मे धनात्मक भेदभाव की नीति अपनायी जा रही है जिससे वे अन्य जातीय समूहो के साथ समानता के आधार पर प्रतियोगिता करने के लिए तैयार हो सक। जहाँ कहीं भी धनात्मक भेदभाव का दर्शन/विचार स्वीकार किया गया है उसके लक्ष्य निश्चित सामाजिक श्रेणियोंवाले जातीय और सास्कृतिक समूह ही रहे है।

स्त्रियो के बारे म धनात्मक भेदभाव का प्रश्न भिन्न हे क्योकि इसमे लगभग आधा मानव समुदाय सम्मिलित हे। पिछले दशको मे काफी जोरदार ढग से कहा गया है कि यौनगत भेदभाव और स्त्रियो के सास्कृतिक आधार पर वचन पर ध्यान केन्द्रित किया जाय। सामाजिक समता और वितरण की दृष्टि से महिलाओ को विकास की प्रक्रिया मे समान रूप स भाग लेना चाहिए आर उसके लाभो मे भी समान हिस्सा पाना चाहिए। जैसे जैसे विकास क बारे म हो रहा चिन्तन मनुष्य को सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करनेवाले केन्द्रीय ससाधन के रूप मे स्वीकार करने लगा है यह भी माना जाने लगा है कि बदलाव के अभिकर्ता क रूप मे महिलाएँ पुरुषो क साथ समान अधिकार और दायित्व रखती हैं। अब बल मानव विकास पर दिया जाने लगा है सस्कृतिजन्य ओर अन्य बाधाएँ अब उन्हे उनकी पूर्ण क्षमता को प्राप्त करने मे बाधा नही बन सकती।

**सकारात्मक कारवाइ क्या है ?** इस विषय पर पहले के चिन्तन म सकारात्मक कार्रवाई को मुख्यत एक आरम्भिक चरण माना गया था। इसके अन्तर्गत सदिया पुराने पूर्वाग्रहो के शिकार समूहो के व्यक्तियो को अच्छी नौकरी दिलाने के लिए उन्हे खोजना आर तैयार करना शामिल था। पिछले वर्षो मे इस सोच मे फर्क आया है क्योकि तैयारी पर केन्द्रित भेदभाव वाछित परिणाम देने म असफल रहा। अब सकारात्मक कार्रवाई के चार स्पष्ट परन्तु परस्पर सम्बधित आयाम स्वीकार किये गये हैं सुरक्षात्मक कष्ट निवारक, अतिरिक्त सुविधा से कमी की आपूर्ति तथा सहभागिता। दुर्बल वर्गो क लोगो के लिए कानूनी सहायता द्वारा राज्य से सुरक्षा प्रदान करना आवश्यक माना गया है। एक विचारधारा तो यहाँ तक मानती है कि परम्परागत कानूनी प्रतिबन्धो को इन वर्गो के हित म कानूनी कार्रवाई के रूप म बदलना चाहिए। निवारक आयामो की यह अपेक्षा है कि सुनिश्चित वित्तीय साधन उदार दृष्टि से लक्ष्य समूहो के कल्याण और विकास के लिए उपलब्ध हो। क्षतिपूर्तिवाले पक्ष का तात्पर्य है शिक्षा नौकरी और आवास की उपयुक्त उपलब्धता। इसके पीछे निहित विचार यह है कि इन्हे शैक्षिक अवसरो और नौकरी तथा पदोन्नति मे साख्यिकीय समता प्राप्त हो सके। उनके आवास को अलग रखने की प्रवृत्ति को दूर करना होगा। राजकीय हस्तक्षेप तथा सस्थागत पुनर्सरचना द्वारा

इन समूहा को यथासम्भव कम से कम अवधि मे समान बनाना होगा। सहभागी आयाम का लक्ष्य निर्णायक सस्थाओ मे विभिन्न स्तरो पर इस वर्ग के लोगों की सदस्यता को आरक्षित कर राजनीतिक शक्ति तक उनकी पहुँच को बढाना है। जब तक समानता और न्याय की गतिशील दृष्टि पर आधारित तथा उत्कट दृढता और निर्णायक ढग से सकारात्मक कार्रवाई नहीं होगी तब तक कोई शुरुआत नहीं हो सकेगी। नीचे से 40% लोगो पर जिनके साथ सर्वाधिक भेदभाव किया गया है सर्वप्रथम ध्यान देना होगा।

विवाद के मुद्दे वंचितो के लिए सकारात्मक कार्रवाई क कुछ उपायो क बारे मे कोई विवाद नहीं है पर लक्ष्य समूहों का चयन तथा धनात्मक भेदभाव तरफदारी का स्वरूप और मात्रा तीखे विवाद के विषय हैं। क्या इसके अन्तर्गत सम्मिलित करने का मानदण्ड जातीय और यौनगत आधार होना चाहिए ? क्या साधन सम्पन्न और कम साधन सम्पन्न बल्कि निश्चित ही विपन्न–दोनो की सभी सामाजिक श्रेणियो का सम्मिलित किया जाये ? या धनात्मक तरफदारी के लिए लक्ष्य व्यक्तियों और समूहो को सुपरिभाषित आर्थिक और सामाजिक वचन के सकेत के आधार पर चुना जाय ?

एक उग्र और तीखा विवाद सकारात्मक कार्रवाई के प्रश्न पर उठ रहा है। इस नियम से निर्गत नीतियो का कार्यान्वयन कुछ देशो मे दीर्घ अवधि की कानूनी लड़ाई का रूप ले चुका है। इस मुद्दे को लेकर कई देशो में काफी सामाजिक तनाव का अनुभव किया गया है कुछ मे आंशिक उथल पुथल भी मची है। कुछ अन्य देशो मे सम्भव खतरा भी महसूस किया जा रहा है। जहाँ समाज की बनावट मे और आधारो में मूलभूत परिवर्तन वांछित हैं सुधारो का मार्ग शायद ही सहज हो। फिर भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न अनिश्चित समय के लिए आलमारी मे बन्द नहीं रखे जा सकते क्योकि उनके दीर्घकालिक परिणाम और भी खतरनाक होगे।

सकारात्मक कार्रवाई की बात कई सुचिन्तित आधारो पर की गयी है। पहला यह ऐतिहासिक अन्यायो को दूर करने के लिए है। जिन साधनों और सुविधाओ को कई समूह कई सदिया से नहीं पा सके उन्हे नये सामाजिक परिदृश्य म अब अधिक समय तक रोका नहीं जा सकता। यह अन्यायपूर्ण और अनैतिक होगा और इसे बनाये रखने का कोई भी प्रयास तीव्र उथल पुथल को ही जन्म देगा। इसलिए इन वचित और विभेदित समूहो को आर्थिक और सामाजिक न्याय उपलब्ध करना अनिवार्य हो गया है। दूसरा इससे वंचित समूहा को ऊपर उठने के लिए एक वास्तविक आधार मिलेगा। यह स्वाभाविक रूप से जनता के विभिन्न वर्गो और श्रेणियो के बीच विद्यमान खाई को कम करेगा और समतावादी समाज का मार्ग प्रशस्त करेगा। तीसरी सकारात्मक कार्रवाई के सशक्त उपायो के बिना समानता और न्याय की रूपरेखा नहीं बन सकेगी। उपहार और दान अनुत्पादी

हैं वे निरन्तर उपस्थित अन्याय की समस्याओ का समाधान नही कर सकते। केवल सकारात्मक कार्रवाई के आधारो से ऊपर बढते हुए समाज अपना पुनर्निर्माण कर सकगा जिससे कि वचित अपने मानवीय महत्त्व और क्षमता का एहसास कर सके। अन्त म ऐसी नीति एक एसे सहभागी समाज के उद्‌भव मे सहायक हागी जिसम निर्णय लेने की शक्ति होगी और जो उन लोगा तक पहुचेगी जो अब तक इससे वचित रहे हैं। ऐसी ही नीति सच्ची राष्ट्रीय एकता को जन्म दे सकेगी और विकास की प्रक्रिया म सभी वर्गो का समान भागीदारी दिला सकगी।

सकारात्मक कार्रवाई के आलाचक अत्यत मुखर हैं। वे इस मत के हैं कि ऐसी नीति अवसर की समानता को ऋणात्मक ढग से प्रभावित करगी। यदि देश मे कोई सविधान है ता यह सामान्य प्रजातात्रिक सविधान के भी विरुद्ध होगी। कुछ खास दशाओ मे यह नागरिका क उन मूल अधिकारो के भी विरुद्ध जाएगी जिनके हक सकारात्मक तरफदारी के नाम पर मारे जाएँगे। यह नीति समानता पर बल देती हे पर ऐसा करते समय योग्यता का महत्त्व घटा देती है। फलत शिक्षा और लोक सेवाओ की गुणवत्ता के ह्रास की सम्भावना बढ जाती है। देश केवल समानता के ही आधार पर नही बनाये जा सकत याग्यता बुद्धि और उत्कृष्टता की भी शक्तिशाली भूमिका होती है। इन सबके नष्ट होने की सम्भावना बढ जाती है यदि सकारात्मक तरफदारी को एक सीमा के बाद भी लागू किया जाए। साथ ही यह भी कहा जाता है कि सकारात्मक कार्रवाई स्थायी निहित स्वार्थो का जन्म देगी जो राष्ट्रीय एकता के लक्ष्यो के लिए घातक हागे। यह सुविदित है कि कुछ अश्वेत (नीग्रो) जा गोरा की तरह बात कर सकते थे अमरिका मे अब अपनी अश्वेत जातीय अस्मिता की पहचान पर जोर द रहे हैं। अमेरिकी इण्डियन अब अपने इडियन होन पर जार दे रहे हैं। लातीनी अमेरिकी मूल के लोग छोड दिये गय स्पेनी नाम अब फिर एक बार अपनाने जा रहे हैं और यह जातीय भाषाएं पार्श्वदृश्य उत्साह के साथ सामने रखा जा रहा है। एसा कहा जाता है कि यह सब इसलिए हा रहा है कि सकारात्मक तरफदारी की नीति से इन समूहो को अतिरिक्त लाभ मिले हैं। भारतीय अनुभव भी यह सकेत दता है कि प्राप्त हानेवाले विभिन्न लाभो के कारण कुछ समूह पिछडेपन और अपनी नयी सस्थिति के स्वार्थो को विकसित कर लते हैं। इसके कारण एक प्रकार की परायजीविता जन्म लती है। इन दलीला म सत्याश है पर य सकारात्मक कार्रवाई की जरूरत का पूरी तरह स व्यर्थ नहीं साबित करत। अधिक से अधिक व चतावनी देते हे और यह सुझाते है कि खाई को पाटने क उपाय ठीक हा अनचाहे उनस सामाजिक भिन्नता न बढे और भेद का बनी दीवार को व मजबूत न कर।

**टिप्पणी** निष्कर्षत सकारात्मक कार्रवाई की अपनी उपयोगिता है हालाँकि इस दिशा म लगी नीतिया को बनी सतर्कता दृढता आर सावधानी स लागू करना

होगा। यह आवश्यक पर समाज के विकास क्रम मे एक सक्रमणकालिक दशा है। इसे स्थायी रूप देने का कोई इरादा नहीं है। मूल अधिकार और प्रजातान्त्रिक मानदण्ड समानता और न्याय के हक की अनदेखी नहीं कर सकते। कोई भी सविधान अनुलघ्य नही होता इसे सदैव बदलती हुई परिस्थिति और समाज के बडे वर्गों की नयी इच्छाओ के प्रति सवेदनशील और क्रियाशील होना होगा। एक अर्थ मे अच्छे इरादे सदैव सवैधानिक होते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि सकारात्मक कार्रवाई के तैयारीवाले पक्षो पर बल दिया जाए और एक निश्चित अवधि की निवारक तथा क्षतिपूरक तरफदारी की सार्थक नीति को लागू किया जाए। यहाँ मूल उद्देश्य अति कमजोर वर्गो को समान भागीदारी के लिए तैयार करना है परन्तु वे वैसा करे इसलिए उन्हे एक निश्चित मात्रा मे सुरक्षा निवारण तथा क्षतिपूर्ति देनी होगी। सुविचारित योजना और उसके ध्यानपूर्वक कार्यान्वयन से यह सब कुछ दशको मे पाया जा सकता है। आरम्भ मे वाछित जाति समूहो और सामाजिक श्रेणियो को समग्र रूप से सुरक्षा और विकास की प्रक्रिया मे शामिल करना होगा पर क्रमश जो लोग वाछित विकास के स्तर को पा जाएँ उन्हे परिधि से बाहर कर देना होगा। इसके लिए सुपरिभाषित व्यजको की आवश्यकता होगी। कार्यक्रम को ऐसा होना चाहिए कि जब वचित समूह विकास का एक निश्चित स्तर प्राप्त कर ले तो सकारात्मक कार्रवाई व्यर्थ हो जाये। यह सामाजिक कार्य के लिए एक चुनौती है। इसके खतरो के बावजूद वर्तमान सन्दर्भ मे सकारात्मक कार्यवाही का कोई उपयुक्त विकल्प नहीं दिखता।

**सस्था निर्माण** आधुनिक सरकारो का एक पहलू जो ध्यान आकर्षित करता है वह है सत्ता और कार्य का केन्द्रीकरण। राज्य का कार्यक्षेत्र अत्यधिक विस्तृत हो गया है और हर बीतते दशक के साथ उसमे नये उत्तरदायित्व जुडते जाते हैं। एक स्पष्ट प्रवृत्ति दिख रही है कि सरकारे स्वेच्छा से अपना भार बढा रही हैं और ऐसे नये नये कामो की भी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले रही हैं जो पहले दूसरी सस्थाओ और अभिकरणो द्वारा हुआ करते थे। फलत मन्त्रालयो और विभागो की भरमार है स्वय मे बडी नौकरशाही और भी अधिक फैल रही है। इसके समानान्तर एक प्रवृत्ति है नौकरशाही के बढते वर्चस्व की। औपनिवेशिक ढाँचे पर बनी लोक सेवाओ की एक अपनी सस्कृति होती है। उनकी कार्यप्रणाली लालफीताशाही और नौकरशाही की औपचारिकता से ग्रस्त है बाकी नियमो और कानूनो पर आवश्यकता से अधिक बल के कारण नौकरशाही उन स्थितियो मे अपने को कारगर बनाने मे कठिन पाती है जहाँ पहले के उदाहरण नही है। औपनिवेशिक काल के बाद की नौकरशाही की कार्य सस्कृति मे परिवर्तन लाने के प्रयास का वाछित परिणाम नहीं हुआ है परिवर्तन बहुत कम और अधिकतर दिखावटी ही हुआ है। यह अलग-थलग और सकुचित रही है और जनता की

नयी सामाजिक आकाक्षाओ इच्छाओ ओर समस्याओ के प्रति धनात्मक और नये ढग से प्रतिक्रिया करने की क्षमता नहीं दिखा सकी है। यह प्राय एक आर राजनीतिक अधिकारियो के दबाव तथा दूसरी ओर जनता के बढते असन्तोष के कारण निष्क्रिय हो जाती है। शक्तियो और प्रतिशक्तियो के सक्रिय होने के बावजूद राजनीतिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण या नौकरशाही को इस तरह पुनर्गठित करने की कोई उल्लेखनीय चेष्टा नही हुई है जिससे कि यह कम दायित्व लेकर क्षमता के साथ काम कर सके। वस्तुत विकास के क्षेत्र म और देश के सामान्य शासन के क्षेत्र म असफलता ओर प्रभावहीन निष्पादन के बीच राजनीति और नौकरशाही का अस्वस्थ मेल प्रमुख कारण रहा है।

यह प्रवृत्ति निश्चित ही प्रतिउत्पादी है। आम आदमी की सरकार तक अत्यन्त सीमित या कोई पहुँच नही होती ह। अत्यन्त आवश्यक सम्पर्क के लिए भी उन्हे राजनीतिक दलालो या किसी बिचौलिए की मदद लेनी पडती है। इसकी कीमत होती है। अपना काम कराने के लिए लोगो को सरकारी कर्मचारियो की विभिन्न स्तरो पर मुट्ठी गर्म करनी पडती है। इस प्रकार जो व्यवस्था पनप रही है उसकी कार्यशैली म ही भ्रष्टाचार की जगह बनी हुई है। आमतौर पर इसके कारण सरकारी कार्यतन्त्र अविश्वसनीय हो जाता है। दूसरी ओर अलग-थलग पडी राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्था इसलिए अच्छी तरह काम नहीं करती कि उस नीचे की जमीन स उपयुक्त सूचना नही मिलती। यहाँ तक कि विपत्ति क सकत तेज और स्पष्ट हो तो भी वह उसे अनसुना कर देते हैं या उसका महत्व घटा देते हैं। जब असन्तोष की आग भयकर लपटो म परिवर्तित हो जाती है तब काफी विलम्ब से उसका शमन करने का प्रयास किया जाता है। निर्णय प्रक्रिया म भागीदारी न होने से आम आदमी म उदासीनता पैदा होती है जिसकी प्रच्छन्न सक्रियता का सरकार विरोधी शक्तियो द्वारा अपने पक्ष म शोषण किया जाता है।

**संस्था निर्माण की आवश्यकता** इस परिस्थिति को सुधारा जा सकता है राजनीतिक शक्ति का विकेन्द्रित करके नौकरशाही की भूमिका और दायित्वो को सभाले जा सकने योग्य मात्रा म सीमित करके तथा जनता की निर्णय प्रक्रिया म भागीदारी सुनिश्चित करके–कम से कम उन क्षेत्रो म जो स्थानीय और क्षेत्रीय समस्याओ से जुडे हैं। कुछ देशो ने विकास के लिए विकेन्द्रीकरण करने का प्रयास किया है पर उनम से अधिकाश प्रयोग असफल रहे हैं और उनम अनेक प्रतिबन्ध रहे हैं। जो राजनीतिक सत्ता के मठाधीश हैं वे नयी संस्थागत रूपरेखा को अविश्वास के साथ देखते हैं क्योकि इससे उन्हे खतरा हो सकता है। नौकरशाही अन्दर ही अन्दर नये प्रयोगो के प्रति उदासीन रहती है। अपने नये राजनीतिक आकाओ के साथ बडी कठिनाई से, काम करना सीखने के बाद इन दोनो के बीच राष्ट्रीय और राज्य स्तरो पर एक कामचलाऊ समीकरण बन चुका है। अब यह उन

योजनाओ के बारे मे सशयग्रस्त हैं जो निर्णय प्रक्रिया मे दो या तीन नये स्तरों को जोडती हैं। ये परिस्थिति को और जटिल बनाएँगे और नौकरशाही को जनता और उसकी सस्थाओ के साथ काम करने की तकनीक सीखनी होगी। अब तक वे जनता पर शासन करते थे, दया की मुद्रा मे, जनता के लिए काम करने की भी कोशिश की, पर जनता के साथ काम करना नयी समस्याएँ खडी करेगा और सम्भवत उसकी शक्ति और अधिकार, जो स्वय ही घटाये जा चुके हैं, को और भी कम करेगा। पचायती राज का प्रयोग–प्रजातान्त्रिक विकेन्द्रीकरण, भारत मे पूरी तरह सफल नहीं रहा, क्योकि इसे चलाने के लिए न राजनीतिक समर्थन मिला न नौकरशाही की दृढता। पाकिस्तान मे बुनियादी डेमोक्रेसी का हश्र भी इससे भिन्न नहीं था। स्थानीय और क्षेत्रीय स्तर पर वास्तविक प्रजातन्त्रीकरण केन्द्र मे अधिनायकवादी शासन के साथ अच्छी तरह नहीं चल सकता।

भिन्न भिन्न मात्राओ मे यही अनुभव अन्य देशो मे भी रहा है, जहाँ इस तरह के प्रयोग एक या दूसरे रूप मे किये गये। अभिजात वर्ग ने बेमन से इस विचार को अपना समर्थन दिया। इसके परिणाम सामने हैं। अतिभाराक्रान्त सरकारे और उनका प्रशासनतन्त्र पगु बना है। विकास तथा अन्य प्रासगिक निर्णय प्रक्रिया तक आम जनता की पहुँच को असन्दिग्ध बनाने के लिए, उचित फीडबैक देने के लिए, व्यवस्था मे ही प्रावधान करने के लिए और भागीदारी द्वारा मानव ससाधनो के सक्रियकरण को प्राप्त करने के लिए, सस्था निर्माण द्वारा विकास के लिए विकेन्द्रीकरण का एक दूसरा प्रयास आवश्यक है। इस बार के प्रयास के पीछे अधिक राजनीतिक इच्छा होनी चाहिए, साथ ही इसकी सफलता के मार्ग की सभी बाधाओ को समाधान की दृष्टि से सँभालना होगा।

सस्था निर्माण का एक दूसरा क्षेत्र योजना तन्त्र और सस्थाओ से जुडा है। विगत वर्षों मे तीसरी दुनिया के कई देशो मे योजना की तकनीक मे सुधार हुआ है या उनमे अधिक दक्षता आयी है। अब आँकडो का आधार अधिक उपयुक्त और परिशुद्ध है। तीन दशको के अनुभव ने नियाजको को यह सिखा दिया है कि दूसरी जगह सफलतापूर्वक प्रयुक्त मॉडलो का अनुकरण काम नहीं करता, एक सृजनात्मक अवदान जा सस्कृति तथा समस्याविशिष्ट है, अपेक्षित है। बार बार की विफलताओ के आघातो ने काफी हद तक नए सोच को जन्म दिया है। अब नियोजन उतना अनुदार और परम्परागत नही है जैसा कि वह हुआ करता था, अब वह प्रयोगो के प्रति खुलापन रखता है, छोटे पमाने पर ही सही, कुछ साहसी और क्रान्तिकारी प्रयोगो के प्रति सवेदनशील है। यह सब अच्छे के लिए है। फिर भी, योजना निर्माता अभी भी दूर बन्द दरवाजो के भीतर काम करते हैं। वे प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध साख्यिकीय आँकडो पर विश्वास करते हैं–न कि जनता की नब्ज की पहचान पर। पक्की, सुन्दर और स्वयपूर्ण परियोजनाओ को उत्पन्न करने की

इतनी तीव्र प्रवृत्ति है कि ऐसी योजनाएँ प्रस्तुत करना ही नही चाहते जो काम करती हैं। मॉडल का सौष्ठव और अध्ययन विधि का परिष्कार नियोजको को भाता है और इसके फलस्वरूप ये तद्रित करनेवाले सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य और रोबीली विधिगत परिशुद्धता के आधार पर प्रभावशाली जिल्द बाँध देत हैं। इस प्रक्रिया मे योजना का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष कमजोर पड जाता है। परियोजना का निर्माण और उसका मूल्याकन अधिकाशत निम्न कोटि का हेता है। योजना निर्माता इन निम्नस्तरीय कामो को अपने लिए सम्मानास्पद न मानकर राज्यस्तरीय अधिकारियो और कार्यान्वयन के अभिकरणो के लिए छोड देता है। प्राय योजनाएँ इसीलिए विफल हो जाती हैं। निष्पादन की जाँच और मूल्याकन के तरीको मे काफी सुधार अपेक्षित हैं। उनके परिणामो का नियोजन प्रक्रियाओ के मूल्याकन मे उपयोग नही किया जाता। इन दोषो के कारण योजना तन्त्र और सस्थाओ का भली भाँति और पूरी तरह परिष्कार जरूरी है। सस्था निर्माण का यह दूसरा क्षेत्र है और इसे विकास के लिए स्थापित विकेन्द्रित सस्थाओ के साथ आशिक रूप मे जुड़ना चाहिए।

तीसरी दुनिया के देशो मे अधिकाश नियोजन और विकास आज की समस्याओ के प्रयोजनात्मक उपागम पर निर्भर होता है। या तो परिप्रेक्ष्य अनुपस्थित होता है अथवा फिर उसे विकसित करने की जो कोशिश होनी है उसमे कोई गहराई नहीं होती। जो दीर्घकालिक दृष्टिया उपलब्ध हैं वे प्राय आदर्शो से आक्रान्त रहती हैं या ऋणात्मक होती हैं। जो सर्वविदित है उसे बडे तामझाम के साथ उपस्थित किया जाता है परन्तु व्यवस्थित आकडो को ठीक तरह से निबद्ध करने का गम्भीर चिन्तन इस प्रयास मे अत्यन्त दुर्लभ होता है। विकास के कई अत्यन्त महत्त्वपूर्ण क्षेत्रो मे परिस्थितियो की मूल्याकन रिपोर्ट या परिस्थिति का सही विश्लेषण या तो उपलब्ध नही है या फिर वह अधूरा होता है। नीतिग्त विकल्पो की सम्भावनाओ को हानि लाभ के रूप मे स्पष्टत विश्लेपित नही किया जाता है न ही दीर्घकालिक परिणामो का आकलन और विविध प्रतिक्रियाओ और बाधाओ पर ही ध्यान दिया जाता है। विकास के महत्त्वपूर्ण क्षेत्रा को एक दूसरे से अलग थलग रूप मे ही समझने का प्रयास हुआ हे और उनके पारस्परिक सम्बन्धो को व्यवस्थित रूप से परिभाषित नही किया गया है। विभिन्न अकादमिक अनुशासन इन प्रयत्नो को अलग-अलग दिशाओ मे खीचते हैं और इसके फलस्वरूप परिस्थिति का एक समग्र और सावयवी चित्र नही उभरता। नियाजन का उपकरण इस दिशा मे कुछ प्रयास अवश्य करता है परन्तु उनम से अधिकाश बडे ही कमजोर सिद्ध हाते हैं क्योकि उनके लिए अपेक्षित बौद्धिक ससाधनो की कमी रहती है। विकास और अकादमिक क्षेत्रो के बीच के सम्बन्ध टेढे हैं और वे केवल यदा क्दा विचार विनिमय के लिए बैठको तक ही सीमित हैं। सार्थक और निरन्तर शोध जो नीति की प्रक्रिया मे योगदान कर सकती है या तो की ही नही जा रही है या इसके परिणाम इतने

विलम्ब से आते हैं कि नीति निर्माण मे उनका नित योगदान नहीं हो पाता।

इसका यह अर्थ नहीं है कि समस्त शोध, योजना की ही दिशा मे उन्मुख होनी चाहिए, अध्येताओ को इस बात की भी स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वे उन क्षेत्रो मे शोध करे जो उन्हे महत्त्वपूर्ण लगे या रुचिकर हो। फिर भी नियोजन तथा विकास की जरूरतो की पूरी तरह से उपेक्षा नही की जा सकती, खासतौर से तब जब शोध को राज्य से प्रचुर वित्तीय सहायता मिल रही हो। इस बात के प्रमाण हैं कि तीसरी दुनिया की मनीषा अपने दायित्व के प्रति क्रमश सजग हो रही हैं। फिर भी नियोजको और अध्येताओ के बीच सवाद की एक बडी खाई बनी हुई है। जहाँ नियोजक अपनी शोध-आवश्यकताओ को ठीक से व्यक्त नहीं कर पाते, वहीं अकादमिक अध्येता अपने परिणामो को उस रूप मे प्रस्तुत नही कर पाते जिस रूप मे नियोजक उनका आसानी से उपयोग कर सके। शोध परिणामो को कार्यरूप मे बदलना स्वय एक समस्या है। अकादमिक व्यक्ति, स्वभाव से ही सामाजिक आलोचक की तरह कार्य करता है। यह बुरी बात नहीं है, परन्तु अत्यधिक ऋणात्मक सोच और निराशा विकास के नियोजक के लिए किसी काम की नही होती। सामाजिक आलोचना को अपने सीमित दायरे से, जिसमे वह सचालित होती है, ऊपर उठना चाहिए यह कहना पर्याप्त नहीं है कि दोष क्या है, यह भी सामने लाना चाहिए कि दोष क्यो है और परिस्थिति को किस तरह सुधारा जा सकेगा। नियोजन और शोध तथा चिन्तन के पारस्परिक सम्बन्ध को इस तरह सस्थात्मक रूप देना होगा कि मूलभूत लक्ष्यो की प्राप्ति मे दोनो ही साझेदारी करे और विचार तथा सूझ का आदान प्रदान दोनो के लिए सार्थक और प्रासगिक हो सके।

जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे, जो प्रकार्यात्मक की दृष्टि से विनिर्दिष्ट हैं, उनमे शासन की ओर से न्यूनतम हस्तक्षेप होना चाहिए और उनके लिए उपयुक्त सस्थाओ को स्वायत्तता और जिम्मेदारी सौंपना ठीक होगा। यह सत्ता के विकेन्द्रीकरण और उन क्षेत्रो को दायित्व तथा निर्णय क्षमता देने की दिशा मे एक कदम होगा जिनमे उन्हे स्थित होना चाहिए। शासन द्वारा समर्थन और सहयोग उपयोगी होगा पर इस प्रक्रिया मे राज्य को कुछ आत्म सयत नियमो के अधीन काम करना होगा, ताकि इन सस्थाओ की कार्य करने की स्वायत्तता नष्ट न हो। सरकारी नियमो और अक्सर हस्तक्षेप के कारण सस्थाओ का विघटन हो रहा है। उन्हे उत्कृष्टता की ओर अग्रसर होना होगा और समस्या समाधान के कार्यों को हाथ मे लेना होगा। यह सब स्वायत्तता के माहौल मे ही अच्छी तरह किया जा सकेगा। जो सस्थाएँ इस समय विद्यमान हैं, उनको पुनर्जीवित करने के साथ ही नयी सस्थाओ को स्थापित करना होगा। ऐसा करने से समाज के सृजनशील वर्गों से उनकी उत्कृष्ट उपलब्धि प्राप्त हो सकेगी। ये वर्ग दुर्भाग्यवश, अपने को उपेक्षित पाते हैं और इसके

परिणामस्वरूप अपने को अधिकाधिक असम्पृक्त रखने लगे हैं।

सक्षेप मे यहाँ इस बात का सुझाव दिया जा रहा है कि समाज के समग्र सस्थागत ढाँचे खासतौर पर सत्ता के सन्दर्भ मे सुधार कुछ नयी सरचनाओ के पुनर्निर्माण और कुछ मे नवाचार लाने के लिए पुनर्विचार की आवश्यकता है। सत्ता और शक्ति का विकेन्द्रीकरण कम से कम बडे आकार के देशा मे एक अनिवार्यता है। ऐसी आशा की जाती है कि विकास के लिए विकेन्द्रीकरण नियोजको और आम जनता के बीच के तनाव को दूर करेगा और प्रासगिक तथा सहज विकास के लिए अधिक उपयुक्त पर्यावरण प्रदान करेगा।

इस प्रसग मे आवश्यकता है सर्वप्रथम मुख्यत विकास के बारे मे निर्णय लेनेवाली बहुस्तरीय सस्थाओ के गठन की परन्तु इन्हे प्रशासन के अन्य क्षेत्रो मे भी कुछ अधिकार और दायित्व देना होगा। सस्थाओं के इस जाल का मुख्य लक्ष्य विकास के अभिकरणो और सामान्य प्रशासन तक जनता की पहुँच को बढाना होगा इससे उनके वर्तमान जीवन और भविष्य से जुडे निर्णयो मे उनकी भागीदारी सुनिश्चित हो सकेगी और विकास की वरीयताओ और लक्ष्यो को तय करने के अनुभव तथा योजनाओ के क्रियान्वयन मे सहायता देने और उनकी लक्ष्य प्राप्ति की भूमिका के द्वारा उनकी राजनीतिक और नागरिक शिक्षा भी हो सकेगी। यहाँ पर प्रस्तावित नयी सस्थागत सरचना मानव ससाधनो के सक्रियकरण की दिशा मे महत्त्वपूर्ण उत्प्रेरक का काम करेगी उपयुक्त फीडबैक को सुनिश्चित करेगी और स्थानीय तथा क्षेत्रीय महत्त्वाकाक्षाओ तथा विकास की आवश्यकताओ और वरीयताओ पर ध्यान केन्द्रित करने मे सहायक होगी। इस तरह के प्रयोगो को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक होगा कि जनता मे विश्वास और भरोसे के साथ इसे समर्थन मिले। बहुत अधिक प्रतिबन्ध या अत्यधिक सतर्कता इन सस्थाओ को कभी भी ऊपर नही उठने देगी। अधिकारो को सही माने मे दूसरो को देना होगा और जनता को भी कुछ करने की छूट रहनी चाहिए। अनुभव एक बडा शिक्षक है। लोग अपनी सहचर्यात्मक क्षमता को विकसित नहीं कर सकेंगे यदि उनकी पहल को बार बार की राजनीतिक और प्रशासनिक बाधा या नौकरशाही का हस्तक्षेप कुठित करेगा। कल्पनाशीलता और प्रशिक्षण कार्यक्रम इसके लिए अपेक्षित होगे। उनके त्रिविध कार्य होगे जनता की चेतना को बढाना और उसे ऊपर उठाना उपयोगी क्षेत्रो मे क्षमता और कौशल प्रदान करना और स्थानीय तथा क्षेत्रीय प्रश्नो और इन समस्याओ जिनकी वाछनीयता और आवश्यकता के बारे मे आम सहमति हो, को राजनीति से अलग रखने को प्रोत्साहित करना।

जन सेवाओ की पुनर्सरचना एक दूसरा क्षेत्र है जिस पर तत्काल ध्यान देने की आवश्यकता है। नौकरी मे भर्ती की प्रक्रिया और तरीके प्रशिक्षण सतत प्रशिक्षण और सयोजित कार्य मानको पर नयी दृष्टि जरूरी होगी। सामान्य प्रशासको और

तकनीकी विशेषज्ञो के बीच के सनातन द्वन्द्व और तनाव को सन्तोषजनक ढग से सुलझाना होगा। कार्य की एक नयी सस्कृति के निर्माण की ओर विशेष ध्यान देना होगा, जिसमे अधिकारो और दायित्वो का स्पष्ट वितरण हो, कार्यविधि सरल और तर्कसम्मत हो, नवाचार को प्रोत्साहन मिले तथा प्रभावशाली ढग से समस्या समाधान को पुरस्कृत किया जाए। सरकारी कर्मचारियो को विशेषज्ञता पाने के लिए अवसर और प्रोत्साहन मिलना चाहिए और सरचना को पर्याप्त रूप से खुला और लचीला होना चाहिए, ताकि उच्च स्तरो पर विशिष्ट योग्यता और विशेषज्ञतावाले व्यक्तियो को, नौकरशाही के पदानुक्रम की शृखला के बाहर से भी लिया जा सके।

जैसा कि पहले सुझाया गया है, सुधार की अपेक्षा करनेवाला तीसरा क्षेत्र नियोजन की प्रणाली तथा सस्थाओ का है। नियोजन के कार्य की सफलता सुनिश्चित करने के लिए कई कदम उठाने होगे। परियोजक निर्माण और मूल्याकन की गुणवत्ता को काफी ऊपर उठाना होगा और क्रियान्वयन की क्षमता को बढ़ाना होगा। योजना निर्माता तात्कालिक वर्तमान की अपनी चिन्ता नहीं छोड़ सकते, पर साथ ही वे दीर्घकालिक नियोजन के दायित्व से भी अपने को मुक्त नहीं कर सकते। इसके लिए नियोजन तथा अकादमिक क्षेत्रो के बीच समझदारी और सचार के सेतु बनाने होगे। नियोजन निष्पादन आडिट के लिए उपलब्ध होना चाहिए और उससे सूचित और निदेशित भी होना चाहिए। साथ ही उसे जनता को यह सूचित करना होगा कि उसके लक्ष्य, उपकरण, विफलताएँ और उपलब्धियाँ क्या हैं।

अन्त मे, विभिन्न उपयोगी क्षेत्रो मे सस्थाओ के जाल को स्वायत्तता और स्वाभिमान के साथ काम करने और विकसित होने का अवसर मिलना चाहिए। जहाँ वे उपलब्ध नहीं हैं वहाँ उन्हे स्थापित करना होगा। उनकी सफलता के लिए राजनीतिज्ञो और अफसरो को अधिकार के क्रोध और अज्ञानता की ढिठाई के प्रदर्शन पर बन्धन लगाना होगा। लक्ष्यो मे बार-बार बदलाव को रोकना होगा और परिश्रम द्वारा गुणवत्ता की सस्कृति को आगे बढाना होगा।

**कठिनाइयाँ और समस्याएँ :** सस्था-निर्माण एक अत्यन्त जटिल और कठिन कार्य है तथा इसके लिए पर्याप्त मात्रा मे कल्पना, धैर्य और प्रयोगशीलता की आवश्यकता होती है। इस प्रसग मे कई कठिनाइयो का अनुमान लगाया जा सकता है। स्थापित विचार सरूप और कार्यविधियाँ आगे भी बनी रहने के लिए सन्नद्ध रहेगी। न्यस्त हित अपना सिर उठाएँगे और जो अधिकार और प्रतिष्ठा उन्हे प्राप्त है, उसको छोडना नहीं चाहेगे। सस्थागत नवाचार पर अविश्वास आम बात है। नयी सस्थागत रूपरेखा के बारे मे राजनीतिक प्रतिबन्ध हो सकते हैं और विपरीत सामाजिक परिणामो का भय भी हो सकता है। यह सम्भव है कि यहाँ पर सस्तुत बहुस्तरीय सस्थाएँ राजनीतिक रूप ले ले और इस तरह अपने प्रकट लक्ष्यो को

निष्पादित कर सकने मे असमर्थ हो जाएँ। इसके बदले व कुछ प्रच्छन्न लक्ष्यो पर ध्यान देगी जो उन उद्देश्यो के विपरीत होग जिनके लिए वे मूलत स्थापित हुई थीं। यह भी सम्भव है कि निहित स्वार्थवाले तत्त्व उनसे प्राप्त न्य अधिकार और प्रतिष्ठा के आधार पर उन सस्थाओ पर काबू पा ल। इसकी भी सम्भावना है कि एसी नयी सस्थाओ का जन्म एक खानापूरी मात्र रह जाय जिनका केवल प्रतीकात्मक महत्त्व हो और अधिकार तथा दायित्वो का सही अर्थो मे स्थानान्तरण न हो। इसी तरह नौकरशाही भी असहयोग का या बाधक रुख अपना सकती है ताकि उनके अधिकार और सुविधाएँ उनके हाथ से न जाएँ। ऐसे समय म शासन असमाप्त झझटो की शृखला बन चुका हो और एक त्रासदी के बाद दूसरी को निपटाने म लगा हो तो नियोजन के उपकरण के साथ छेडखानी न करने के कई बहाने और तर्क दिये जा सकते हैं। नियोजन के क्षेत्र म भी सम्भवत शक्ति का गणित ही हावी होगा। राष्ट्रीय लक्ष्यो के बारे म आम सहमति का अभाव नियोजन को राजनीतिक वाद विवाद का विषय बनाये रखेगा और बनी हुई योजनाओ की अच्छाइयो और गुणो को दरकिनार कर राजनीतिक आधारो पर आक्रमण को अवसर देगा। सरक्षण देने के नाम पर सरकारे अन्य सस्थाओ को अपने नियन्त्रण म रख सकती हैं। इस तरह सस्था निर्माण को केवल नाममात्र का समर्थन मिल सकता है।

**टिप्पणी** यह मानी हुई बात है कि सस्थागत परिवर्तन सरल नहीं है पर यह भी समझ लेना चाहिए कि अन्तिम विश्लेषण म बदलाव न लाने की कीमत सुझाये गये बदलाव से कहीं अधिक होगी। यदि वर्तमान स्थिति चलती रही तो यह शिखर पर विशृखलता और सीमान्तो पर रक्तहीनता को जन्म देगी। केन्द्र के पास अपनी क्षमता और शक्ति की सीमा स अधिक ध्यान देने के प्रश्न होगे। केन्द्र अपने अधिकार और दायित्वो को जितना अधिक बढाता जाएगा उतना ही अधिक उसे कम प्राप्त करने की स्थिति म रहेगा। फलत अधिक समस्याएँ अनसुलझी रहगी और लोगो म अधिक कुठा और असन्तोष को जन्म देगी। अपनी चमक खो चुकी और काफी त्रस्त नौकरशाही अभी भी विश्वासपात्र रुखवाली नहीं है। यदि वह अकले उन कार्यो को करेगी जिनका आकार कई गुना बढ रहा है और उन क्षेत्रो म जिनके लिए उसके पास योग्यता नहीं है तो उसकी साख और भी कम होगी। विकासपरक परिवर्तन के नियोजन और क्रियान्वयन मे जनता की पहुँच और भागीदारी की मनाही के कारण वर्तमान हड्बडी की स्थिति आग भी बनी रहेगी। नियोजको के एक अभिजात वर्ग का आधार और असन्तुलित वरीयताएँ बनी रहगी। य अबाधित सुधार लाएँगी और स्थानीय और क्षेत्रीय समस्याओ का उनका समाधान निम्न श्रेणी का होगा। भारत पाकिस्तान और बाग्लादेश के मानव और भौतिक ससाधनो को वे सक्रिय नहीं कर सकी हैं। अपनी

कामयाबी दिखाने के लिए सहायता देकर वे विकास की नीति को चालू रखे हुए हैं। इसस जनता की पहल मर जाती है और उसका आत्मगौरव भी नष्ट हो जाता है। दीर्घकालिक गहरे तथा बहुआयामी परिप्रेक्ष्य के अभाव में नियोजन अपनी अधिकांश शक्ति और प्रासङ्गिकता खो देगा। वह समाज जो अपनी समस्या समाधान की क्षमताओं और गुणवत्ता को प्रखर करने पर उपयुक्त ध्यान नहीं देता वह प्रगति की दौड में पीछे रहने को बाध्य है। यदि अस्थायी उथल पुथल के परिणामो के डर से सस्था निर्माण के द्वारा वास्तविक विकास का अवसर खो दिया गया तो हम बहुत कुछ खो देगे।

और भविष्यदर्शी कार्य योजनाएँ हैं, पर आर्थिक और राजनीतिक समर्थन के बिना उनके लिए कार्यान्वयन का सुदृढ आधार नहीं है, विभाजित मानसिकता उन पक्षो को प्राथमिकता देती है जिनमे तात्कालिक लाभ की स्पष्ट सभावना होती है, समाज की पुनर्रचना के विराट् स्वप्न मौखिक स्वीकृति के साथ सुदूर भविष्य मे कभी क्रियान्वयन के लिए लबित रखे जाते हैं।

सम सामयिक परिदृश्य की विसगतियाँ नाटकीय भी हैं चिन्ताजनक भी।

शीतयुद्ध की समाप्ति के बाद विनाशकारी नाभिकीय युद्ध की सम्भावना टल गयी है समाप्त नहीं हुई। एटमी शक्तियो के पास इस श्रेणी के आयुधो का विशाल भण्डार अभी भी है, यद्यपि उनकी सख्या म कुछ कमी हुई है। इनकी प्रक्षेपण शक्ति म तीक्ष्णता आई है। मारक शक्ति के विकास और सुसस्करण पर निरतर अनुसधान हो रहा है जिसमे बडी मात्रा मे पूँजी निवेश किया जा रहा है। एटमी निशस्त्रीकरण की योजनाओ की गति धीमी है और परिणाम सदिग्ध। सच तो यह है कि पूरी निगरानी के बावजूद प्रच्छन्न रूप से एटमी शक्ति पाने के प्रयास आज भी हो रहे हैं और निर्णायक रूप से यह कह सकना कठिन है कि कौन-कौन से देश इसे उपलब्ध कर चुके हैं। इस शक्ति के अनेक शान्तिपूर्ण उपयोग भी हैं, उसके दुरुपयोग पर ही नियत्रण उचित है। यह मानने का कारण है कि इस क्षेत्र मे महाशक्तियो का रवैया भेद भाव और पक्षपातपूर्ण है। रासायनिक और जैविकीय युद्ध की सम्भावनाएँ भी दिल दहला देनेवाली हैं। क्या उन पर नियत्रण रखा जा सकता है ? अविश्वास के पर्यावरण मे ऐसा कर सकना सरल नहीं है।

महा नरसहार भले ही रुक गया हो, स्थानीय और क्षेत्रीय युद्ध आज भी हो रहे हैं और उनमे नए और सस्करित अस्त्र शस्त्रो का उपयोग हो रहा है। विश्व सस्थाएँ उनमे हस्तक्षेप करती हैं पर शान्ति स्थापित नहीं हो पाती। अफगानिस्तान बोस्निया, सोमालिया, रवाडा, चेचनिया को ही देखे। ये कुछ उदाहरण हैं ऐसी स्थितियो के, जिनमे अन्तर्राष्ट्रीय सगठन अपने आप को असहाय पाते हैं। कितने ससाधनो का विनाश होता है ऐसे युद्धो मे ? इनके लिए आयुध कहाँ से आते हैं ? आर्थिक और सामाजिक विकास की प्रक्रिया पर इनका क्या प्रभाव पडता है ? साथ ही आतकवाद पर विचार करना भी जरूरी है। आतकवाद एक सक्रामक रोग की तरह प्राय विश्व भर मे फैल रहा है और अनेक क्षेत्रो मे राज्य व्यवस्था को अस्थिर कर रहा है। इन आन्दोलनो को प्रत्यक्ष ओर प्रच्छन्न समर्थन-वित्तीय और राजनीतिक-मिलता है। यह जानते हुए भी विश्व व्यवस्था मौन रही आती है या सदेच्छापूर्ण प्रस्ताव पारा करने को अपने उत्तरदायित्व की इतिश्री मान लेती है। ऐसे आन्दोलन ससाधनो का कितना अपव्यय करते हैं ? और विकास को कितना पीछे धकेलते हैं ?

ससार के अधिकाश देश अब स्वतत्र हैं, अपवाद थोडे ही हैं। इन देशो मे

जनतांत्रिक व्यवस्था है। आत्मनिर्णय का अधिकार भी उन्हे प्राप्त है। सैद्धान्तिक धरातल पर ये लक्षण शुभ हैं। पर इन देशो पर अनेक दबाव हैं और वे अपनी सप्रभुता को सीमाकित पाते हैं। भूख बेरोजगारी शिक्षाहीनता आवासहीनता और सार्वजनिक स्वास्थ्य की विकराल समस्याएँ कई अर्थो म उनकी आजादी को बेमानी बना देती हैं। ऋण और व्यापार की सुविधाएँ कड़ी शर्तो के साथ मिलती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्वबैंक का अकुश उन पर निरन्तर रहता है। इसी सन्दर्भ मे एक चिन्तनीय विन्दु है कई राज्यो की एकता का क्षरण और विखण्डनकारी प्रवृत्तियो का उदय। जातीय अस्मिता के प्रश्न धार्मिक भेद भाव राजनीति मे निर्णायक सस्थाओ तक पहुँच का अभाव आदि ऐसे तत्त्व हैं जो राष्ट्रीय समाकलन मे अवरोधक होते हैं। इनकी पृष्ठभूमि मे भी अवरुद्ध आर्थिक विकास और सामाजिक प्रगति ही मुख्य कारक हाते हैं।

पिछले पचास वर्षो मे विकास की गति बहुत तेज रही है। सकल विश्व उत्पाद मे सात गुनी वृद्धि हुई है। मानवीय विकास सूचकाक के अनुसार 1960 मे विश्व की 70% जनसख्या दैन्य की स्थिति मे थी 1992 मे घटकर 32% ही रह गयी। ये सूचकाक यह भी बतलाते हैं कि जहाँ 1960 मे केवल 25% को सतोषजनक जीवन स्तर उपलब्ध था 1992 मे उसकी पहुँच 60% तक हो गयी। विश्व उत्पाद का वितरण बहुत असमान है। सूचकाक भ्रामक हो सकते हैं वे किसी स्थिर स्थिति के द्योतक नही होते। मानव समाज के 40% भाग के जीवन स्तर का आज भी असतोषजनक होना अपने आप मे चिंता की बात है। युनाइटेड नेशन्स ने स्वीकार किया है कि विकासशील देशो की 1/5 जनसख्या को दो जून रोटी नहीं मिलती ¼ को शुद्ध पेय जल जैसी जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएँ उपलब्ध नहीं हैं और ¼ निरपेक्ष गरीबी मे जीती है। दूसरी ओर सम्पन्न वर्ग की विलासिता का खर्च आश्चर्यचकित कर देनेवाला है।

विश्व के सैन्य खर्च मे कुछ कमी हुई है पर वह आज भी सम्पूर्ण मानवजाति की आधी सख्या की आय के बराबर है। विकास के जो लक्ष्य प्राप्त किए जा चुके हैं वे भी समस्याएँ उत्पन्न कर रहे हैं। शिशु मृत्यु दर घटी है पर इस बढी सख्या के लिए न पर्याप्त पौष्टिक आहार उपलब्ध है न शिक्षा की पर्याप्त सुविधाएँ हैं और न उन्हे सक्रामक रोगो स बचाने के समुचित साधन ही हैं। औसत आयु पहले की अपेक्षा बढी है पर बुढ़ापा अपने आप मे एक समस्या बनता जा रहा है।

मनुष्य के ज्ञान विज्ञान मे अभूतपूर्व वृद्धि हुई है प्रौद्योगिकी चमत्कार कर सकने मे समर्थ है। आज की दुनिया मे ज्ञान शक्ति बन गया है परन्तु उसका वितरण असमान है। खाद्य उत्पादन नयी प्रौद्योगिकी की सहायता से बहुत बढा है, उसके और भी बढने की सभावना है। यह उन देशों में सम्भव होगा जिनमें इस क्षेत्र की प्रशिक्षित योग्यता केन्द्रित है और जो अनुसन्धान और उत्पादन मे

अतिरिक्त पूँजी निवेश कर सकने मे समर्थ हैं। यह उत्पादन वैसे भी महँगा होगा, बौद्धिक सम्पदा अधिकार की शर्तें उसके मूल्य म और भी वृद्धि कर उसे विपन्न देशों और विपन्न वर्गों की पहुँच के बाहर कर देंगी। औषधि और शल्य चिकित्सा के क्षेत्रो म भी आश्चर्यजनक प्रगति हुई है पर वे भी इतनी महँगी हैं कि गरीबी की रेखा के नीचेवाने क्या मध्यवर्ग भी उनका लाभ नहीं उठा सकता। जीवन रक्षा के साधन तो उपलब्ध हैं पर विकासशील देशो की जनसख्या का एक बडा भाग उनका लाभ उठा सकने मे समर्थ नहीं है। सगणक विज्ञान के विकास का कुछ लाभ इन देशा को भी हुआ है, किन्तु इस विधा की शिक्षा महँगी है और व्यक्तिगत सगणक खरीद सकना औसत आदमी की क्रय शक्ति के बाहर है। विज्ञान और तकनीकी के विकास ने अमीर और गरीब देशो के बीच की खाई को और भी चौड़ा कर दिया है।

कुछ समस्याएँ ऐसी हैं जिनकी उपस्थिति अमीर और गरीब दोनो प्रकार के देशा मे है—बढती हिंसा और व्यक्तिगत असुरक्षा, बढ़ता अपराधीकरण और राजनीति पर उसका प्रभाव, पर्यावरण का बढता प्रदूषण, स्वापक तथा अन्य मादक पदार्थों का फैलाव आदि। विकासशील देशो के पास इन समस्याओ का निराकरण करने के लिए पर्याप्त ससाधन नहीं हैं। इस कारण उन पर इनकी चोट अधिक लगती है और उनकी विकास योजनाएँ डगमगा जाती हैं।

परिवर्तन की तेज गति ने विकासशील देशा की सामाजिक बुनावट को क्षीण किया है। उनका सास्थानिक ढाँचा बदलते परिवेश के अनुरूप अपने आप को ढालने मे समर्थ नहीं रहा। इस कारण उनकी सामाजिक और राजकीय व्यवस्था का विघटन हो रहा है। जातीय भावना का विस्फोट, धार्मिक कट्टरता का आक्रामक रुख, सम्पन्न देशो का बढता राजनीतिक वर्चस्व और विकासशील देशो मे सत्ता के लिए अन्तःकलह इस प्रवृत्ति को पोषित कर रह हैं। विकास के लिए शान्ति और सामाजिक स्थिरता आवश्यक शर्तें हैं। आतकवाद का भूमण्डलीकरण निश्चित रूप से विकास के मार्ग मे एक बडा अवरोधक है। परिवर्तन के प्रबन्धन की कारगर प्रविधि को अभी विकसित होना है।

उदार अर्थ व्यवस्था और बाजार के तर्क का आरम्भिक स्वागत उन आश्वासनो पर आधारित था जो बडे साहसिक विश्वास के साथ तीसरी दुनिया को दिए गए थे। भोल मन से इन पर विश्वास कर लनेवाले देशा का उन आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक सास्कृतिक कठिनाइया और अवरोधो का पूर्वानुमान नहीं था जो उनके व्यापीकरण की गति को मन्द कर सकत थे। मोहभग की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी है। उभरती स्थिति का आग्रह आर्थिक प्रक्रिया को नया मोड देने लगा है। पुरानी अर्थ व्यवस्था और नयी व्यवस्था के समायोजन मे समय लगता है, सक्रमण की स्थिति मे मुद्रा का अवमूल्यन, मुद्रा स्फीति, मूल्य वृद्धि और कई

क्षेत्रो मे उत्पादन के लिए उपलब्ध आर्थिक सहायता मे कटौती एक भयावह सी स्थिति उत्पन्न करते हैं। बाजार के तर्क की पहली चोट गरीब वर्ग और सामाजिक सेवाओ पर पडती है। बढत मूल्य असुरक्षा की भावना उपन्न करते हैं। नयी तकनीकी पहले दौर मे बरोजगारी घटाती नही बढाती है। आर्थिक विकास के लिए ऋण और सहायता पाने के लिए अनेक शर्तो को स्वीकार करना पडता है–मानवाधिकारो की स्वीकृति सामाजिक अनुच्छेदो का पालन बौद्धिक सम्पदा अधिकार का पालन और पर्यावरण सबधी शर्ते। अन्तत ऐसा होना तो चाहिए परन्तु एकदम आरम्भ से एसा कर सकना गरीब देशो के लिए सम्भव नही है। उन पर ऋण का भार पहले से ही बहुत अधिक होता है जिसकी अदायगी उनके बजट का 40% से 70% भाग तक हो सकती है। व्यापार की अनुदार शर्ते उन्हे अपने वित्तीय ससाधनो मे वृद्धि कर सकने से रोकती हैं। प्रश्न वैकासिक सहायता का है। यह सहायता कहा से आए ? युनाइटेड नेशस का प्रस्ताव था कि विकसित देश अपनी राष्ट्रीय आय का 0 7 प्रतिशत विकास के लिए अलग रखे। कोपनहेगन शिखर सम्मेलन म इस पर भी सहमति न हो सकी। यही हाल प्रस्तावित 20 20 ढाचे का हुआ जिसके अनुसार धनदाता देशो को अपने सहायता बजट मे बुनियादी सेवाओ के लिए 20% राशि का प्रावधान करना था और विकासशील देशो को अपने राष्ट्रीय बजट का 20% बुनियादी सेवाओ पर खर्च करने के लिए वचनबद्ध होना था। समृद्ध देश इसके लिए तैयार नहीं हुए और ऋण भार के कारण विकासशील देश ऐसा कर सकने म समर्थ नही हैं। मुक्त बाजार गरीबी बेरोजगारी और सामाजिक विखण्डन के प्रश्नो का उत्तर नही खोज पा रहा। असमानता की समस्या विकराल रूप ले रही है।

राजनीतिक धरातल पर भी कुछ प्रश्न चिन्तनीय हैं। क्या आज की एक ध्रुवीय राजनीतिक व्यवस्था टिकाऊ होगी ? विश्व का शक्ति सतुलन आज अमेरिका के पक्ष म है। एक तरह स उसका वर्चस्व है। कल क्या होगा ? क्या जर्मनी और जापान इस स्थिति को स्वीकार करेगे ? रूस भी स्थायी रूप स पराश्रयी स्थिति स्वीकार नही करेगा। उभरती शक्तियॉ–चीन भारत और अन्य–अपनी अनुपूरक भूमिका से सतुष्ट नही रहेगी। नए सत्ता समीकरण पुन बहुध्रुवीकरण की स्थिति उत्पन्न करगे। सम्भव है यह एक नए शीतयुद्ध की शुरुआत हो। समय के सकेत स्पष्ट हैं–सहयोगी और सहभागी अवर्चस्ववादी और न्यायपूर्ण विश्व व्यवस्था शान्ति और विकास के लिए अनिवार्य है।

विकास के सास्कृतिक आयाम भी महत्त्वपूर्ण हैं। अर्थव्यवस्था के भूमण्डलीकरण के साथ अपसस्कृति का भी भूमण्डलीकरण हो रहा है। भोगवादी *सस्कृति जगल की आग की तरह फैल रही है और जीवन दृष्टि और जीवन शैलियो* को विकृत कर रही है। मूल्य विशृखलित हो रहे हैं विघटनकारी शक्तियाँ सामाजिक

ढाँचे को जर्जर कर रही हैं। इस अराजक स्थिति ने नए प्रश्न उठाए हैं। सास्कृतिक अस्मिता और स्वायत्तता आज के सवाद मे केन्द्रीय बिन्दु बनते जा रहे हैं। धर्म और आस्था ने अपनी प्रतिक्रियात्मक शक्ति को नयी अभिव्यक्ति दी है। सभ्यताओ के महायुद्ध की सम्भावनाएँ भले ही अतिरंजित हो, पर परम्परा और छद्म आधुनिकता का सघर्ष शायद टाला नहीं जा सकता। विकास के लक्ष्यो और साधनो पर एक समाकलित दृष्टि विकसित करना आवश्यक है।

आज का वैकासिक परिदृश्य अनेक प्रश्न उठाता है। सम्भावनाओ को यथार्थ का रूप देने के लिए इनसे साक्षात्कार कर हमे सार्थक विकल्पो की खोज करनी है।

## 9. अन्तरावलम्बन ओर स्वायत्तता

विकास का इतिहास दो विपरीत प्रक्रियाओ का साक्षी रहा है-पहली सस्कृतियो के पारस्परिक सहयोग और अन्तरावलम्बन की दूसरी उनकी पृथक पहचान और स्वायत्तता की। एक ही समय मे पडनेवाले ये परस्पर विरोधी दबाव परिवर्तन और विकास की प्रक्रियाओ को अत्यन्त जटिल बना देते हैं। सस्कृतियो के बीच आदान प्रदान की भूमिका इतनी महत्त्वपूर्ण रही है कि ससार की कोई भी सस्कृति पूरी तरह शुद्ध या अछूती नहीं मानी जा सकती वे एक दूसरे से सास्कृतिक तत्त्व ग्रहण करती हैं। उनका परिष्कार और अनुकूलन करती हैं। सस्कृति के प्रत्येक धरातल पर यह लेन दन होता आया है-सस्कृति के भोतिक और प्राविधिक पक्ष मे वैचारिक पक्ष मे कलात्मक पक्ष मे।

व्यापक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे मानव की सस्कृतियो को साझा निर्माण माना जा सकता है। साथ ही सस्कृतियाँ अपनी अस्मिता की पहचान और वैशिष्ट्य के प्रति भी अत्यन्त सवेदनशील होती हैं और किसी अन्य सस्कृति का वर्चस्व आसानी से स्वीकार नही करती। एक ओर उपलब्ध सास्कृतिक तत्त्वो का स्वीकरण उनकी उपयोगिता और गुणवत्ता के आधार पर किया जाता है दूसरी ओर जब उन्हे थोपने का प्रयत्न होता है तब उसका प्रतिरोध किया जाता है। समाज के हर वैकासिक स्तर की इकाइयॉ-पारिवारिक झुण्ड दल कबीला (जनजाति/गण) राष्ट्र और राज्य अपने प्रतिष्ठा चिह्न विकसित कर लेते हैं जिनकी रक्षा के लिए वे अपनी सुरक्षा और जीवन की बाजी लगा देते है।

समसामयिक स्थिति बहुत ही जटिल और विरोधाभास से भरी हुई है। अन्तरावलम्बन का यथार्थ 'राज्य से बडी इकाइयो की खोज को प्रेरित करता है साथ ही प्रजाति क्षेत्रीय भाषा और धर्म क आधार पर पुरातन इकाइया अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए आन्दोलन करती हैं। ये आन्दोलन सदा लोकतान्त्रिक तरीको से नही चलाए जाते अनेक स्थितियो मे वे उग्र और हिसक हो जाते हैं।

आतकवाद स्वायत्तता की राजनीति का नया मुहावरा है, उसे विदेशो से सहायता और समर्थन आसानी से मिल जाता है। बढते अन्तरावलम्बन के समीकरण राज्यो और सस्कृतियो को जोडते हैं, स्वायत्तता की माँगे अलगाववाद की प्रवृत्तियो को शक्ति देती हैं। विकास की कुशल और कारगर नीति इन दोनो विपरीत दबावो की उपेक्षा नहीं कर सकती। उनका समायोजन और समन्वय आवश्यक है।

जीवन के बदलते सन्दर्भो ने अन्तरावलम्बन के क्षेत्रो को बहुत विस्तारित कर दिया है। मानवजाति के अस्तित्व के सकट से जुडे प्रश्न अन्तरावलम्बन को नए आयाम देते हैं। सामान्य जीवन को सुचारु रूप से सचालित करने के लिए भी अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग आवश्यक होता है। देश एक दूसरे पर काफी सीमा तक निर्भर रहने लगते हैं। जीवन की गुणवत्ता मे वृद्धि और आर्थिक-सामाजिक विकास की आवश्यकताएँ भी अन्तरावलम्बन के नए रूपो को जन्म देती हैं।

अस्तित्व के सकट के अनेक पक्ष हैं। इनमे से कुछ का सन्दर्भ अन्तर्राष्ट्रीय है, कुछ का मुख्यत राष्ट्रीय। मानव की लापरवाही से पृथ्वी का पारिस्थितिक सन्तुलन बुरी तरह से बिगडा है, पर्यावरण गम्भीर रूप से प्रदूषित होता जा रहा है। वन बेरहमी से काटे गए हैं, भूमि के विवेकहीन दुरुपयोग से उसके कई क्षेत्रो मे लवणो की मात्रा बढी है और उसकी उर्वरता कम हुई है, नदियो और समुद्रो मे जल प्रदूषण हुआ है और आकाश मे ओजोन की परतो मे छेद हो गए हैं। इनके परिणाम हैं–मौसम मे परिवर्तन, एसिड-वर्षा, मरुस्थलीकरण, जलवासी जीवो का विनाश, जिनमे से अनेक मनुष्य का भोजन भी हैं, और समुद्र-तल की ऊँचाई का बढना, जिससे कुछ देशो मे अनेक द्वीपो के जलमग्न होने की आशका है और जो तटीय क्षेत्रो को भी प्रलय का पूर्वाभास करा देगे। वायुमण्डल और जल-प्रदूषण मे औद्योगिकीकरण की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण है। उद्योगो का धुआँ और गैस तथा विषाक्त अवशिष्ट इस प्रदूषण को बढाते हैं। कई औद्योगिक उत्पाद भी इसके लिए उत्तरदायी हैं। मोटरकारो की बढती सख्या अपने जहरीले धुएँ से शहरो मे फेफडो और आँखो की बीमारियो मे वृद्धि कर रही है। प्लास्टिक भूमि मे गलता और मिलता नहीं है। इस प्रदूषण के कारण और प्रभाव दोनो अन्तर्राष्ट्रीय हैं, बिना अनेक देशो के सहयोग के उनका निराकरण नही किया जा सकता।

विश्व मे ऊर्जा का सकट भी गहराता जा रहा है। बढती जनसख्या को ईंधन या तो जगल की लकडी से मिलता है या कोयले जैसे खनिज से या पेट्रोल तथा मिट्टी के तेल-जैसे जीवाश्म स्रोतो से। वनो की कटाई यदि इसी गति से चलती रही तो उसके परिणाम विनाशकारी होगे। खनिज कोयले और जीवाश्म ईंधनो के भण्डार अपरिमित नही हैं। जिस गति से उनका दोहन हो रहा है, वह चिन्ताजनक है। अनेक अन्य प्राकृतिक ससाधन खनिज, धातु आदि धीरे-धीरे समाप्त हो रहे हैं। उनके विकल्पो की तलाश जिस गम्भीरता से होनी चाहिए, हो नहीं रही है।

इसकी खपत पर नियन्त्रण जरूरी है। इनके भण्डारा का दिनरा अनन्त है। व्यवस्था ऐसी हो कि देश म अनुपलब्ध समाधन उदित मूल्य पर उन्हे बन्द हुए से मिल सके। विकल्पो की खोज यदि युद्ध स्तर पर नहीं का गइ ता विकास का महारय एक दिन एकाएक रुक जाएगा। ये भी अन्तरावलम्बन और सहयोग के महत्त्वपूर्ण क्षेत्र हैं।

युद्ध की विभीषिका से मानवजाति भली भाँति परिचित है। स्थायी शान्ति की व्यवस्था के अनेक असफल प्रयत्न भी हुए हैं। पहले विश्वयुद्ध के बाद लीग आफ नेशन्स की स्थापना हुई पर यह जन्म से ही पक्षाघात पीडित थी। उपनिवेशवाद के युग म वह प्रतिस्पर्धी साम्राज्यो के हितो मे तालमेल नही बैठा सकी और कुछ ही दशको मे एक बार फिर युद्ध के बादल मँडराने लगे। युद्ध टालने के प्रयत्न अवश्य किए गए लेकिन वह टाला नहीं जा सका। वर्षो की विनाशलीला के बाद जापान के हिरोशिमा और नागासाकी नगरो पर एटमबम छोड गए जिनके प्रभाव से युद्ध का अन्त हुआ। इस युद्ध से भी मानव ने कोई सबक नहीं सीखा। वर्चस्व के लिए जोडतोड होती रही और कई बार दुनिया फिर युद्ध के कगार पर पहुँच गई। इन अधिकाशत अघोषित युद्धो से कई चौंकानेवाले परिणाम सामने आए।

वियतनाम युद्ध ने दिखाया कि किस तरह एक छोटा और गरीब लेकिन प्रतिबद्ध राष्ट्र भी सबसे वडी शक्ति के छक्के छुडा सकता है। दूसरी ओर इराक युद्ध मे प्रलय के आधुनिकतम सस्करण का पूर्वावलोकन करा दिया गया। अफगानिस्तान सोमालिया और बोस्निया के युद्धो ने दिखा दिया है कि युनाइटेड नेशस जैसा सगठन परिणाम की दृष्टि से कितना प्रभावहीन हो सकता है उसका हस्तक्षेप शान्ति और व्यवस्था पुन स्थापित कर सकने म कितना अक्षम है। राष्ट्रो के गुट और गुटनिरपेक्षता विश्वशान्ति के स्थायी समाधान नही हैं। गरीब देश आज भी सैन्य सामर्थ्य पर अपने उपलब्ध ससाधनो के एक बडे भाग का व्यय कर रहे हैं जिसस उनके विकास की गति कुण्ठित होती है। विकसित देशो के आयुध निर्माता अपने उत्पादन के लिए निरन्तर बाजार खोजते रहते हैं और गरीब देशो को लुभावनी शर्तो पर अपना ग्राहक बनाते हैं। अघोषित क्षेत्रीय युद्ध और सगठित आतकवाद भी इससे समर्थन पाते हैं उन्हे न पैसो की कमी होती है न अस्त्रो की। यह क्षेत्र अन्तरावलम्बन और सहयोग की अपेक्षा करता है परन्तु सशय और अनिश्चय के पर्यावरण मे मानव एक के बाद एक आत्मघाती कदम उठाता रहता है।

सामान्य जीवन का सचालन मुख्यत देश का ही उत्तरदायित्व होता है परन्तु विशेष स्थितियो मे देश के बाहर से सहायता अपेक्षित हो जाती है। प्राकृतिक विपदाएँ–बाढ भूकम्प महामारी–अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर सहानुभूति जगाती हैं। दुर्भिक्ष की स्थिति भी अन्य देशो से स्वैच्छिक सहायता पाती है। तात्कालिक सहायता उपयोगी तो होती है, पर वह समस्या का स्थायी समाधान नहीं होती। प्रश्न है,

बाढो का नियन्त्रण कैसे किया जाए ? जिन क्षेत्रो मे भूकम्प आने की सम्भावना अधिक है, उनमे कौन सी सावधानियाँ बरती जाएँ ? चेचक और हैजा जैसे रोगो का अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से उन्मूलन किया जा चुका है या उन पर अकुश लगा दिया गया है। कुष्ठ रोग तपेदिक और एड्स जैसी बीमारियो के लिए क्या किया जाए ? अपने तथाकथित उन्मूलन के बाद मलेरिया पुन नए और विकराल रूप मे प्रकट हुआ है। इसकी रोकथाम कैसे की जाए ?

भुखमरी की समस्या विश्व की बढती जनसख्या के साथ और भी गभीर होती जा रही है। खाद्य सुरक्षा के कई पक्ष हैं–उत्पादन, भण्डारण और वितरण इनमे मुख्य हैं। उन्नत बीज, कीटनाशक, उर्वरक और सिचाई खाद्य उत्पादन मे वृद्धि के लिए आवश्यक हैं। इनका विकास ससार के विभिन्न भागो मे होता रहता है पर भूमि के प्रकार और जलवायु की दृष्टि से उनकी प्रविधि का परिमार्जन और अनुकूलन जरूरी होता है। यह अन्तरावलम्बन का महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है और इसमे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग हुआ भी काफी है। उपयुक्त उर्वरक और कीटनाशक, सिचाई, भडारण और वितरण सम्बन्धी अनेक प्रश्न अभी भी अनुत्तरित हैं, उन पर अनुसन्धान और प्रयोग होना है। छोटे द्वीप देशो, ऐसे छोटे पहाडी राज्यो जिनका जनभागो से सम्बन्ध नही है और निर्जल तथा मरुस्थली देशो की अपनी विशेष समस्याएँ हैं जिनका समाधान सीमित ससाधनो, प्रशिक्षित योग्यता के अभाव मे वे स्वय खोज सकने मे समर्थ नहीं हैं। उन्हे सहायता और सहयोग की अपेक्षा है।

आर्थिक और सामाजिक विकास तथा जीवन की गुणवत्ता मे अभिवृद्धि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के बिना सम्भव नहीं है। वित्तीय और तकनीकी सहायता जिस रूप मे दी जा रही है, उसकी अपनी सीमाएँ हैं। व्यापार पर भी शर्तें हैं। जहाँ सहायता या ऋण तथाकथित विश्व समस्याओ से आता है वहाँ भी एक देश और उसके सहयोगियो का प्रच्छन्न वर्चस्व है। बौद्धिक सम्पदा अधिकार वैकासिक सहायता और ऋणो से जुडे सामाजिक अनुच्छेद मानवाधिकार पालन की शर्ते, कई दृष्टियो से अच्छे होते हुए भी न तो विकासशील देशो के सही आकलन पर आधारित हैं और न उनके पालन के लिए व्यावहारिक समय सीमा निर्धारित की जाती है या वित्तीय समर्थन दिया जाता है। वर्चस्ववादी देशो के निषेधात्मक आदेशो की लटकती तलवार विकासशील देशो को भयभीत रखती है। विवेक और न्याय सम्मत मानको के अभाव मे इस क्षेत्र मे सम्पन्न और शक्तिशाली देशो की मनमानी चलती है। विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र मे सीमित सहयोग है, पर विकासशील देशो की विराट् उपलब्धियो के लिए न साधन हैं न सहयोग। इस दिशा मे उनके प्रयासो और उपलब्धियो को सशय की दृष्टि से देखा जाता है। सस्कृति के अन्य क्षेत्रो–साहित्य, सगीत, कला आदि–मे सहयोग कुछ बढा है, परन्तु खुले आकाश

की नीति ने अपसस्कृति की वर्षा कर उनके अस्तित्व को भी सकटग्रस्त बना दिया है। आश्चर्य इस बात का है कि अपराध और आतकवाद का भी भूमण्डलीकरण हो रहा है। कई सरकारो का माफिया गिरोहो से गठबन्धन होता है और प्रायोजित आतकवाद की जडे दूर दूर तक फैली रहती हैं।

विकास के लिए अन्तरावलम्बन की आवश्यकता असदिग्ध है। परन्तु उसकी शर्ते विवेक और न्यायपूर्ण नही हैं। वर्चस्ववादी प्रवृत्तिया प्रतिरोध को जन्म देती हैं। अमरिकी वर्चस्व कब तक चलेगा ? कल जर्मनी जापान और फ्रास उसका विरोध करेगे। चीन रूस और भारत भी अधिक समय तक मौन नही रहेगे। विपन्न और उपेक्षित देश भी उद्वेलित हाकर विश्व शान्ति के लिए सकट बन सकते हैं। अन्तरावलम्बन को न्यायोचित और स्थायी आधार तभी मिल सकता है जब युनाइटेड नेशन्स के सदस्य अपने सकल राष्ट्रीय उत्पाद का एक सूक्ष्म भाग (0 7 प्रतिशत) एक विकास कोष मे जमा करे जिसका प्रबन्धन ऐसे सगठन के हाथ मे हो जो शक्ति की राजनीति से मुक्त हो और जिसमे विकासशील देशो की सहभागिता हो। ऐसे प्रस्ताव अभी तक उपेक्षित रहे हैं पर उनका कोई विकल्प नही है।

समकालीन विश्व मे स्वायत्तता की माँग बडी उग्रता से उभरी है। जातीय भावना (एथनिसिटी) विस्फोटक रूप ले चुकी है। प्रजाति सस्कृति धर्म और भाषा के आधार पर नई राष्ट्रीय भावना की रचना की गई है। सास्कृतिक अस्मिता की रक्षा क लिए स्वायत्तता को अनिवार्य माना जाने लगा है। जातीय अस्मिता की रक्षा के लिए सास्कृतिक स्वायत्तता के साथ राजनीतिक स्वायत्तता भी जरूरी मानी जाने लगी है। इस माँग ने कई स्थितियो मे आतकवाद का रास्ता अपनाया है। इससे राजनीतिक व्यवस्था मे अस्थिरता आई है और विकास का मार्ग अवरुद्ध हुआ है।

आतकवाद के साथ धार्मिक कट्टरवाद भी जुडा है। कई इस्लामी देशो जैसे मिस्र अल्जीरिया ट्यूनिसिया और सूडान मे युद्ध आधारभूत इस्लाम और प्रगतिशील इस्लाम के बीच है। धार्मिक कट्टरतावाद दूसरे धर्मो मे भी पनपा है। ये प्रवृत्तियाँ क्यो बलवती हुई ? विकास की प्रक्रिया से बहुतो का मोहभग हुआ है। उसने समृद्धि के छोटे छोटे द्वीप तो बनाए हैं पर विपन्न वर्गों के जीवन स्तर मे विशेष सुधार नही किया। वर्गो की बढती दूरी ने साधनहीन बहुजन मे हताशा को बढाकर उन्हे परम्परा की ओर लौटने पर विवश किया है। आर्थिक सहायता और औद्योगीकरण अपने साथ अवाछित सास्कृतिक प्रभाव भी लाए हैं जिससे सामाजिक नैतिकता का ह्रास हुआ है और समाज की जडे खोखली होने लगी हैं। लिप्सा और भोग की सस्कृति ने विकसित देशो मे भी चिन्ता उत्पन्न की है। अमेरिका मे पारिवारिक मूल्यो की ओर वापसी का आन्दोलन चल रहा हे। ब्रिटेन आधारभूत

मूल्यो की ओर लौटने की बात कर रहा है। छद्म आधुनिकीकरण ने विकासशील समाजो की स्थिति को हास्यास्पद बना दिया है। इन सबसे ऊपर पहचान खो देने का सकट है। सास्कृतिक अस्मिता की रक्षा की चिन्ता विश्वव्यापी है। ऐसा विकास जो इस अस्मिता को नष्ट करे, अन्तत' अस्वीकृत होगा।

भूमण्डलीकरण की अर्थनीति शुद्ध अर्थवाद को प्रश्रय दे रही है। सस्कृतिवाद के आग्रह सस्कृति और विकास के सम्बन्धो पर पुनर्विचार की प्रेरणा बने हैं। विकास के लक्ष्यो और साधना को सास्कृतिक रूप से सवेदनशील बनाकर ही कार्यक्रमो को अधिक ग्रहणशील बनाया जा सकता है।

## 10. सार-संक्षेप

दूसरे विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद के दशकों में तीसरी दुनिया की मनस्थिति में कई बदलाव आए परन्तु आर्थिक वृद्धि और तकनीकी परिवर्तन या दूसरे शब्दों में सामान्य रूप से विकास आह्लाद से घटकर दुराशा में बदल गया है। इस अवधि में सपने की दुनिया टूट गयी। वह नयी नयी मिली राजनीतिक स्वतन्त्रता वैभव और समृद्धि के काल का वादा पूरा करने में विफल रही। इसके कारण उन लोगों में आक्रोश भर गया जिनकी ऊँची उठती आकांक्षा की क्रान्ति प्रचंड कुंठा के दुस्वप्न में बदल गयी। स्वयं को आधुनिक बनाते हुए अभिजात वर्ग ने अपने को शंकित मनस्थिति में पाया उसकी नियोजन और विकास की रणनीतियाँ लड़खड़ाकर विफल हो गयीं। झूठ साबित हुए या न पाये जा सके आदर्शों की एक बड़ी शृंखला को अपने पीछे छोड़ विकास का तिलिस्म टूट चुका है। विकास के क्लासिकी अभिकल्प के टूटने से गम्भीरतापूर्वक पुनर्विचार और विकल्पों की खोज आवश्यक हो गयी है। विकास के वैकल्पिक प्रतिरूप को उस समय गहरा धक्का लगा जब सोवियत संघ अपनी आर्थिक विफलताओं को स्वीकार करता हुआ विखंडित हो गया।

साम्राज्यों के खण्डित होने और उनकी जगह प्रभुसत्तासम्पन्न तथा स्वतन्त्र देशों के उदय के तत्काल बाद राष्ट्रीय विकास की महत्त्वाकांक्षी योजनाएँ आरम्भ हुई थीं। विकास, बदलाव का जादू था–बीसवीं सदी का अलादीन का चिराग। जनता की आशाओं को उस समय उभर विकास के विशेषज्ञों के दावों से बढ़ावा मिला। परिस्थिति के निदान की चेष्टाएँ ज्यादातर सतही रहीं। उन्होंने जो समाधान सुझाये, वे अधिकांशतः बिना जाँचे परखे थे पर उनके पीछे एक ऐसा आत्मविश्वास था जो पौरुष को बढ़ाने के नुस्खों को देनेवाले देशी हकीमों की नज़रों को भी नीचा दिखा दे। पीछे मुड़कर देखने पर, यह असन्दिग्ध रूप से स्पष्ट हो जाता है कि विकास में उनकी आस्था सरलीकृत थी और विकास प्रक्रिया की उनकी समझ

लगभग अनाडियो जैसी। हर बीते वर्ष के साथ 'विशेषज्ञो' ने यह अनुभव किया कि प्रगति की अपरिहार्यता एक मिथक है, कि अर्थशास्त्र का गणित ही गलत दिशा मे बहकानेवाला अकेला कारक है, कि सामाजिक और सास्कृतिक परिप्रेक्ष्य मे सलग्न मानवीय कारक एक ऐसी शक्ति थी जिसको मानना आवश्यक था और विकास प्रक्रिया मे हस्तक्षेप करनेवाले छोटे छोटे राजनीतिक मुद्दो को यदि सवेदनशीलता से नहीं सँभाला गया तो वे त्रासदी बन जाएँगे। दो दशको की छोटी कालावधि मे विकास के बारे मे विचार अपनी आत्मा और विषयवस्तु दोनो मे ही बदल गए। विकास मे अप्रतिबधित और अनन्त विश्वास जब उनकी सभी समस्याओ का हल न कर सका तो कुछ 'विशेषज्ञो' ने चिन्ता और आदर के साथ निराशा की आवाज को सुना और विकास की वाछनीयता के ही आगे प्रश्नचिह्न लगा दिया और उसे समाज का प्रथम कोटि का शत्रु घोषित किया। विकास विरोधी विचारधारा ने तीसरी दुनिया के बुद्धिजीवियो के एक वर्ग पर शक्तिशाली असर डाला।

थोडी कम निराशावादी मन स्थिति उन लोगो की थी जो विकास को बन्द करने के लिए तो तैयार नहीं थे, परन्तु एक सीमा के बाद विकास को असम्भव मान रहे थे। वृद्धि की सीमाओ के अनुनयात्मक तर्क का उनके ऊपर सयत करने वाला प्रभाव पडा। इसके अतिरिक्त चिन्तन के एक अन्य सम्प्रत्यय ने काफी जोरदार ढग से विकास की दर और दिशा मे एक बदलाव की आवश्यकता के पक्ष मे दलील प्रस्तुत की। राष्ट्रीय विकास की युक्तियो से जुड़े लोगो मे जो सर्वाधिक आशान्वित थे, उन्होने भी यह अनुभव किया कि विकास का अतिप्रतिष्ठित अभिकल्प, जिसके साथ उन्होने श्रीगणेश किया था, बाँझ था और विकास के लक्ष्य और तकनीको–दोनो के लिए ही पुनर्विचार अपेक्षित था। इस अनुभव ने मानवता के सम्भव भविष्यो के बारे मे और वाछित भविष्य और विकल्पो के विषय मे सोच को जन्म दिया। 'एक अन्य विकास' या 'दूसरा विकास' जैसे सम्प्रत्यय सामने आना शुरू हुए।

यद्यपि इनमें से कुछ प्रयासो मे एक खास तरह का आदर्शवाद निहित था, फिर भी उन्हे साम्प्रतिक विडम्बनाओ के मूल्याकन का आधार प्राप्त था और उनमे ऐसी कार्यवाही के लिए दिशा निदेशो की रूपरेखा थी जो ज्ञात बाधाओ से पार पा सके और नये लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए समाज की पुनर्सरचना कर सके। इस प्रक्रिया मे असदिग्ध रूप से अभिकल्प मे बदलाव निहित था। परन्तु उभरते हुए नये अभिकल्प स्वय ही डाँवाडोल थे और अनेक अन्त सम्बन्धित लक्ष्यो से जूझ रहे थे जो कई अमूर्त तत्त्वो से जुडे थे। इस तरह के चिन्तन का कुछ भाग निश्चित रूप से गहरे सरोकार और खोज को व्यक्त कर रहा था–स्वायत्तता और समानता वाले भविष्य से सरोकार और नये लक्ष्यो को पाने के सम्भव तरीको की खोज।

ऐसी वैचारिक चेष्टाएँ भी निर्दोष नही थीं इस नयी दृष्टि ने यह नही दिखाया कि यह निहित स्वार्थो और चालू सत्ता समीकरणा का सामना कैसे करेगी जिसने विकसित और अल्पविकसित के बीच विरोध पैदा किया है और ससार के दो तिहाई भाग मे निर्भरता के परिप्रेक्ष्य मे विकास को जन्म दिया है। यह सन्देह कि इनमे से कुछ आदर्श चतुराई की चाल के परिणाम थे और ऐसे दुहर अस्तित्व को बनाये रखने के उद्देश्य से थे जिससे तीसरी दुनिया विश्व ससाधना के न्यायपूर्ण हिस्से की खोज और निर्णय लेने की व्यापक प्रक्रिया मे समानता की स्थिति प्राप्त न कर सके पूरी तरह निराधार नहीं है।

विकासवादी अभिकल्प की विफलता के मुख्य कारण आसानी से पहचाने जा सकते हैं। व्यापक और राष्ट्रीय दोनो ही सन्दर्भो म विकासात्मक प्रक्रिया असमान होने के लिए विवश थी। अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य मे यह समृद्ध और शक्तिसम्पन्न देशो के पक्ष मे थी जो अल्पविकसित देशा के साथ घुमा फिराकर औपनिवेशिक रिश्ता कायम रखना चाहते थे। आज की उत्तर दक्षिण विचार सरचना ससाधनो और शक्ति की असमानता का मुद्दा उठाती है। इसकी कुछ स्थापनाएँ विवादास्पद हो सकती हैं और इसके निष्कर्ष भी पूर्णत सटीक नही हैं पर यह कई महत्त्वपूर्ण मुद्दो को सामने लाती है जिन्हे अब दरकिनार नही किया जा सकता। तीसरी दुनिया के देशो मे परिधि के बदौलत स्वय कई छोटे केन्द्र बन गये हैं जो वाछित और कमजोर हैं। आर्थिक और राजनीतिक सत्ता के प्रबल केन्द्र समृद्धि के द्वीपा का पक्ष लेते हैं और अल्पविकसित क्षेत्रो के साथ ऐसा वर्ताव करते हैं मानो वे आन्तरिक उपनिवेश हैं। विसगति यह है कि विकास ने कमजोर वर्गो को और भी दयनीय बना दिया है।

यह अच्छी तरह दिखा दिया गया है कि कुछ थोडे से विकसित देशो ने विश्व के विकासात्मक ससाधनो का बडा हिस्सा अपने लिए हथिया लिया है। फलत कम विकसित विश्व के लिए विकास के स्रोत चिन्तनीय रूप से सीमित हैं और इसके सक्षम उपयोग से भी प्रभावशाली लाभ की कोई गुन्जाइश नहीं दिखती।

विकास के लिए सहायता मानवतावादी नहीं है जैसा कि प्राय कहा जाता है। इसके साथ लगी अदृश्य डोर शोषक है और एक नवऔपनिवेशिक सम्बन्ध का बनाये रखने की दिशा मे उन्मुख है। असमान और हानिकर शर्तो पर व्यापार को शायद ही विकास म सार्थक योगदान करनेवाला माना जा सके। सहायता और व्यापार दोनो ही निर्भरता के सम्बन्ध को पुष्ट करते हैं।

अल्पविकसित देशा म भी विकास की असमानता दिखाई पडती है समृद्धि के चमकते कुछ द्वीपो के चतुर्दिक गरीबी और दयनीयता का समुद्र लहरा रहा है। विकसित देशा मे भी, वितरण की दृष्टि से विकास के लाभा के विस्तार की असमानता देखी जा सकती है कम विकसित देशा म यह विरोध अधिक नाटकीय

और स्पष्ट रूप से उजागर है। उपयोग मे आने पर समाजवाद और सामाजिक न्याय विषयवस्तुहीन आदर्श बन जाते हैं। ये ऐसे वायदे हैं जिनके पीछे वास्तविक इच्छा शक्ति नहीं है। ये ऐसे लक्ष्य हैं जो जनसाधारण को ललचाते हुए धीरे से पृष्ठभूमि मे चले जाते हैं, और तब विकास के सीमित लक्ष्य ही प्राप्त हो पाते हैं। आवश्यकता और उपलब्धि के बीच के अनुपात गरीबो और अमीरो के लिए जबर्दस्त तौर पर भिन्न हैं, ये दोनो छोर दो भिन्न ससारो का प्रतिनिधित्व करते हैं। जीवनरक्षा के स्तर से नीचे गुजर करनेवालो की सख्या घटने के बदले बढती है। यह निरपेक्ष गरीबी के साथ-साथ बढती हुई बेरोजगारी का भी प्रमाण है। सरकारी दस्तावेज जो सामाजिक सेवाओ के विस्तार का ब्यौरा देते हैं, वे अधिक से अधिक केवल साख्यकीय सन्तोष दे सकते हैं, उनकी उपलब्धियाँ केवल कहने-भर की हैं।

सास्कृतिक समृद्धि और विवेकशील चेतना के विकास की योजनाओ की दरिद्रता के कारण गरीबी की सस्कृति फैलती ही जा रही है। इसी तरह जनता की न्यूनतम आवश्यकताओ की पूर्ति की दृष्टि से बनाये गये कार्यक्रम उन मुद्दो के इर्द-गिर्द चक्कर काटते रहते हैं जिनको हल करने के लिए वे बने थे। वस्तुत वे आम जनता की ओर उन्मुख दृष्टि का आडम्बर या दिखावा ही प्रस्तुत करते हैं, जो क्रान्तिकारी कम और प्रचार के लिए ज्यादा होता है। अपूर्ण महत्त्वाकाक्षाएँ कुठाओ को जन्म देती हैं, जिनसे तनाव और उथल पुथल मे वृद्धि होती है। तनाव और द्वन्द्व को सँभालनेवाला उपकरण कमजोर है, वह अपनी उपलब्धि के बदले नाकामयाबी के द्वारा अधिक पहचाना जाता है। यहाँ तक कि जब अल्पविकसित देश अपने तौर-तरीको मे असन्तुलन को दूर करना चाहते हैं तो वे अपने को असहाय पाते हैं, उनके आश्चर्य का तब ठिकाना नहीं रहता जब वे यह देखते हैं कि विकास से जुडे अनेक निर्णय उनके दायरे से बाहर लिये जाते हैं। उपनिवेशवाद चाहे मर गया हो, नव उपनिवेशवाद आ गया है और वह अधिक शक्तिशाली हो रहा है। नियत्रण की अदृश्य डोर ऐसी चतुराई से खींची जाती है कि राष्ट्रीय विकास के दृश्य के प्रमुख पात्र केवल कठपुतली की भूमिका अदा कर पाते हैं। विकसित देशो के सत्ता के केन्द्रो और विकासशील देशो मे आधुनिकीकृत होते हुए अभिजात वर्ग के बीच सम्बन्ध दृढता से स्थापित हो चुके हैं, इनकी निजी स्वार्थ की रुचियाँ कठिनाई के मौको पर इनके विदेशी सरक्षको से जोरदार समर्थन पाती हैं।

विकास एक अपरिमित रूप से जटिल प्रक्रिया है। विकासात्मक लक्ष्य आसानी से वास्तविकता मे रूपान्तरित नही किये जा सकते। आकर्षक रूप से पैक की हुई योजना-सरचनाएँ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओ पर पगु हो जाती हैं। नेताओ का करिश्मा सक्रियता तो पैदा करता है परन्तु इससे शायद ही कभी विकास जन्म लेता हो।

यदि बातो को दुहराना और बढ चढकर बोलना ही विकास लाने के लिए पर्याप्त होता तो तीसरी दुनिया अब तक स्वर्गतुल्य हो चुकी होती। परन्तु हम लोग पीडा के साथ इस बात से अवगत हैं कि सचाई कुछ और ही है। यदि अनेक अल्पविकसित देशो मे विकास के प्रयास बाझ सिद्ध हुए हैं तो यह अनेक छद्म नीति और छद्म निष्पादन के विभिन्न कारको को उद्घाटित करता है जो कई दृष्टियो से नीति और निष्पादन से कोई सम्बन्ध न रखनेवाले कारको से भी निकृष्ट है।

इस सन्दर्भ मे विचार और गवेषणा के जो महत्त्वपूर्ण क्षेत्र हैं और जिन पर विचार की आवश्यकता है वे हैं निर्णय लिये जाने की प्रणाली विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियो को उपलब्ध कराना तथा स्थायी वृद्धि और इसके पुनर्वितरण के लिए एक आधार सरचना तथा सस्थागत परिप्रेक्ष्य का निर्माण।

सबसे पहले निर्णय की प्रक्रिया को देखा जाये। इस प्रसग मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि कौन किसके लिए निर्णय लेता है। विकास के क्षेत्र मे निर्णय की प्रक्रिया के अधिकाश भाग मे आभिजात्य का पूर्वाग्रह बना हुआ है जो अवाछित सुधार लाता है बेहद जरूरतमदो की खास जरूरतो की उपेक्षा करता है और साहसी प्रचारपूर्ण योजनाओ को सामने रखता है जिनके प्रबन्धन की क्षमता ही मौजूद नहीं है। नियोजन के प्रयास का एक बहुत बडा भाग परिणामी लक्ष्यो और परियोजना पर केन्द्रित होता है सामाजिक लक्ष्यो का नाम मात्र का महत्त्व होता है। सकल राष्ट्रीय उत्पाद के मूल्य को बढाने पर विशेष बल उनमे प्रकट रूप मे देखा जा सकता है। हमारे अनुभव से यह प्रतीत होता है कि कुल विपणन योग्य वस्तुओ और सेवाओ पर यह बल समाज के सम्पूर्ण उत्पादन का ठीक आकलन नही करता है। इसका परिणाम है सामाजिक भूमिकाओ का तथा जनसख्या के एक बहुत बडे भाग के महत्त्व का अत्यन्त सीमित होना। इससे भी खराब बात यह है कि यह रवैया वितरण के महत्त्वपूर्ण प्रश्नो का महत्त्व घटा देता है। ऐसा माना जाता है कि आर्थिक वृद्धि सास्कृतिक और सामाजिक आवश्यकताओ की देखभाल स्वय कर लेगी हालाँकि यह धारणा भ्रामक सिद्ध हुई है। वास्तव मे नीचे तक परिणाम पहुचने की बात बहुत कम मात्रा मे होती है अदृश्य हाथ काम नहीं करता। एक उपयुक्त सास्कृतिक सामाजिक नीति का निर्माण आवश्यक है जो दुर्बल वर्गों की सामाजिक आवश्यकताओ को ध्यान मे रखे तथा उसे आर्थिक नीति के साथ सयोजित करे। जब तक आर्थिक नीति सुविचारित सामाजिक लक्ष्यो से नही जुडेगी इसके परिणामो के हानिकर होने की सम्भावना बनी रहेगी। सामाजिक लक्ष्यो के निर्धारण तथा उन्हे प्राप्त करने के उपायो के बारे मे सहभागी निर्णय प्रक्रिया अनेक असन्तुलनो और दोषो को सुधार सकती है जिनकी कमी योजना निर्माताओ की योजनाओ मे पायी जाती है और जो कई दृष्टियो से आज के सामाजिक यथार्थ से कोसो दूर होती हैं।

भीषण गरीबी से ग्रस्त आम जनता इस विवाद मे भाग लेने और अपनी बात दृढता से सामने रखने के लिए आवश्यक चेतना से रहित है। इनके बारे मे योजना निर्माता अपने इशारे राजनीतिज्ञो से लेते हैं जो प्राय जान बूझकर सामाजिक यथार्थ के बारे मे अपने द्वारा किये गये गरीबो के प्रत्यक्षीकरण को विरूपित कर देते हैं। राजनीतिज्ञो के लिए उनका राजनीतिक अस्तित्व ही सब कुछ होता है। यह उन्हे दीर्घकालिक परिप्रेक्ष्य की उपेक्षा करने और जीवनरक्षक आवश्यक अल्पकालिक परिप्रेक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित करने और ऐसे लटके देने को बाध्य करता है जो तुरत सन्तुष्टि दे। थोडे से उल्लेखनीय अपवादो को छोड शिखर नेतृत्व मे बहुत थोड़े लोग ऐसे हैं जो प्रमुख नीतिगत प्रश्नो की जटिलताओ उनके आन्तरिक आयामो तथा दीर्घ अवधि मे होनेवाले चाहे-अनचाहे प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष परिणामो की समझ रखते हो। सामान्य प्रशासक अपनी सीमित पर स्वीकार्य क्षमता का अतिरजित अनुमान करता है। अत नीति निर्माण के क्षेत्र मे उसकी क्षमताओ को पर्याप्त मात्रा मे समृद्ध और प्रखर बनाना होगा। विशेषज्ञ सम्भवत अपने क्षेत्रो को कुछ गहराई से अवश्य जानते हैं पर उनमे से थोड़े से लोग ही नीति निर्माण की आवश्यकताओ और उसके राजनीतिक तथा प्रशासनिक पक्षो के प्रति सवेदनशील हैं। ये तीनो अवयव प्राय एक दूसरे के विपरीत दिशा मे सम्बद्ध देखे जा सकते हैं इनके ससाधनो और सूझ का मेल जो सफल नीति निर्माण और उसके क्रियान्वयन के लिए आवश्यक है यदा कदा ही हो पाता है—दुर्लभ है। अन्तिम विश्लेषण मे इन तीनो मे से कोई भी उस जनता के प्रति पर्याप्त रूप से सवेदनशील नहीं है जिसके लिए वस्तुत विकास का उद्यम अभीष्ट है और जो मूक रहती है।

अल्पविकसित देशो मे राष्ट्रीय नीतियो को बनाने मे पडनेवाले बाह्य प्रभावो पर भी विचार करे। कभी कभी वे अदृश्य और निर्बाध रहते हैं पर प्राय वे आक्रामक रूप से दृष्टिगोचर और प्रचड रूप से प्रमाणित रहते हैं। यह अब स्थापित हो चुका है कि विदेशी सहायता मानवीय करुणा या साधनसम्पन्न के साधनविहीन के प्रति सौहार्द की परिचायक नहीं है यह प्राय दाता देश की रुचियो को प्रतिबिम्बित करती है और खास परिस्थितियो मे तो यह अध साम्राज्यवाद की द्योतक रहती है। विकसित देशो मे आम नागरिक को इसकी सही अर्थो मे चिन्ता रहती है पर उनका योगदान विदेशी सहायता के अन्तर्निहित प्रभावो को वास्तविक अर्थ मे बदल नहीं पाता है। अन्तर्राष्ट्रीय विशेषज्ञो को बडे पैमाने पर लगाना कई तरह से अव्यावहारिक ही नही घातक भी रहा है। इसके फलस्वरूप असन्तुलित वरीयताएँ तय हुई हैं गलत तकनीक का चुनाव हुआ है अनुपयोगी तथा प्रविधि तरकीबो को अपनाया गया है मानव मस्तिष्क के उच्छेदन तथा निर्भरता सम्बन्ध मे वृद्धि हुई है। यह सही है कि आज की दुनिया मे परस्पर निर्भरता के कुछ

रूप अपरिहार्य हैं पर उन्हे समानता के आधार पर पल्लवित करना चाहिए और मालिक-आसामीवाले अपमानजनक सम्बन्धो को जन्म नही देना चाहिए। अल्पकालिक तथा दीर्घकालिक लक्ष्यो को तय करना संसाधनो और निवेशो के बँटवारे के बारे मे महत्त्वपूर्ण निर्णय लक्ष्यो को पुनर्परिभाषित करने तथा वरीयताओ की पहचान और प्रबन्धन की तरकीबो को अपनाने मे बहुत सा निरूपण अन्तर्राष्ट्रीय सहायता के बडे आकाओ के इशारे पर हुआ है। इनम से बहुत से ज्ञानशून्य रूप म सामने आये हैं। करने के नाम पर उन्होने यही किया कि स्वदेशी वृद्धि को बाधित किया और गैरबराबरी के रिश्ते को बनाए रखने की कोशिश की। नयी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के कई ढाँचे पिछले दशक मे हुए असन्तुलनो और विघटनो के सुधार को प्रच्छन्न रूप से अपने मे समाहित किये हुए हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय विशेषज्ञता को किराये पर लेकर नीति निर्माण कराना या तो राष्ट्रीय नियोजन की उपकरण प्रणाली की कमियो को छिपाने के लिए है या फिर द्विदेशीय या बहुदेशीय आपसी समझ के कारण है। कई स्पष्ट कारणो से इसके लाभ बहुत प्रभावशाली नही रहे हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि ये ऊँचे दामवाले विशेषज्ञ परामर्शदाता तथा सदर्शक–अपने राष्ट्रीय हितो को तिलाञ्जलि नही दे सकते। उनकी सेवाएँ अक्सर एक पैकेज डील का अग होती हैं और उन्हे सहायता (या कर्ज) की शर्तो और मन्तव्य की रक्षा करनी होती है जो कम विकसित देशो को दी जाती है। बात यही खत्म नही होती है। उनमे स कई अपने को पूरी तरह से भिन्न और अपरिचित सास्कृतिक परिवेश मे पाते हैं और उस राजनीतिक तथा सास्कृतिक वातावरण मे जिसमे उन्हे काम करना होता है पूरी तरह दिग्भ्रमित रहते हैं। घर के परिवेश मे उनके समाजीकरण से उनके विचार का तरीका स्थायी हो चुका रहता है और वे अपने पूर्व अनुभव को उस नयी परिस्थिति जिसमे वे काम कर रहे हैं उपयोग मे लाना चाहते हैं। उनके बहुत से प्रयास निष्फल हो जाते हैं क्योकि उनके विचार नयी सास्कृतिक धरती मे जड नही जमा पाते। वे सामाजिक संस्थाओ सास्कृतिक मानको और मूल्यो का अपनी असफलता के लिए दोषी ठहराते हैं। उनमे से अधिकाश यह नही महसूस करते कि इनमे बदलाव तकनीकी और आर्थिक व्यवहार प्रकारो मे बदलाव से ज्यादा कठिन है। सास्कृतिक स्व प्रतिमा तथा अस्मिता अन्त स्थन से ऐसे परिवर्तनो का प्रतिरोध करती है।

देशी नीति निर्माता अपने सामाजिक यथार्थ की चुनौतियो के प्रति सृजनात्मक रुख अपनाने के स्थान पर विद्या के प्रतिष्ठित विदेशी केन्द्रो से उधार लिये मॉडलो या प्रचलित सम्प्रत्ययो और सिद्धान्तो की सहायता से काम करते हैं। यह बन्दी मस्तिष्क के कार्य कलाप का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। अपने काम म वे कई अन्य कठिनाइयाँ पाते हैं। नियोजन के कई महत्त्वपूर्ण क्षेत्रो म बेंचमार्क उपलब्ध नही हैं आँकडे अनुपयुक्त और अविश्वसनीय होते हैं। अधिकाश प्रशासक जो

सामान्य प्रशासन म प्रशिक्षित होते हैं, सूक्ष्म (माइक्रो) तथा व्यापक (मैक्रो) नियोजन की तकनीको से अपरिचित होते हैं। विभिन्न क्षेत्रो तथा उपक्षेत्रो के उनके बनाए ढाँचो म परस्पर तालमेल नहीं होता। फलत इन लोगो के पास विच्छिन्न योजनाओ की एक शृखला होती है जो स्वतन्त्र रूप से तो स्वीकार्य होती है पर आपस म मेल न होने के कारण एक समेकित राष्ट्रीय योजना का रूप नहीं ले पाती है। यह तथ्य इस बात की भी व्याख्या करता है कि क्यो रोजगार, गरीबी और जरूरतो की ओर उन्मुख कार्यक्रमो म दृष्टि और गतिशीलता की कमी रहती है। ज्ञान और दूरदृष्टि सम्पन्न स्त्री पुरुषो का ऐसा चिन्तक दल नहीं है जो विभिन्न नीतिगत विकल्पो का मूल्याकन कर सके और न्यूनतम खर्चवाले मार्ग का दिशा निर्देश दे सके न ही इस तरह की सकलित शक्ति को पैदा करने का कोई प्रयास ही है। वर्तमान और उभर रही राजनीतिक माया के कई अवयव दीर्घकालिक नियोजन म बाधा डालते हैं। वे प्राय नीतिविषयक प्रयासो को कामचलाऊ बना देते हैं और कुछ सन्दर्भों मे उन प्रयासो तक सीमित कर देते हैं जो एक त्रासदी के बाद दूसरी से निपटने भर को रह जाते हैं। सयोजन कमजोर निगरानी बेअसर और मूल्याकन छिछला है। इस समय प्रयुक्त मूल्याकन की तकनीको म गहराई और परिप्रेक्ष्य नहीं है उनम से अधिकाश मुश्किल से ऊपरी तह के नीचे झाँक पाती हैं। योजना निर्माताओ और प्रशासको का इतना ज्यादा समय तनाव तथा उसके प्रभावो के प्रबन्धन म चला जाता है कि व भविष्य की त्रासदियो के बारे म ठण्डे दिमाग से सोच ही नहीं सकते। यहाँ पर यह भी जोड़ा जा सकता है कि वे त्रासदियाँ अधिक तीव्र होगी और आनेवाले वर्षों मे उनकी आवृत्ति अधिक होगी। ऐसी स्थिति म एक समन्वित नीति विज्ञान को विकसित करने के प्रयासो के महत्त्व पर बल देना आवश्यक है।

दो अन्य विशेष महत्त्व के क्षेत्र–विकास की आवश्यक दशाओ को उत्पन्न करना तथा उनके लिए आधार सुविधाओ और सस्थागत ढाँचे का विकास और निर्माण–परस्पर सम्बन्धित हैं और उन पर साथ साथ अच्छी तरह विचार किया जा सकता है।

विकास पर केन्द्रित साम्प्रतिक समाजवैज्ञानिक साहित्य मे विकास के अभिवृत्ति प्रेरणात्मक तथा सगठनात्मक सस्थात्मक ढाँचे को लेकर कई उपकल्पनाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। पिछले तीन दशको म हुए अनुभव के आधार पर वे बहुत उपयुक्त नहीं हैं। उनमे से अधिकाश के बारे मे पुनर्विचार अपेक्षित है। जहाँ वृद्धि की कुछ आर्थिक अनिवार्यताओ को पहचाना गया है, सामाजिक और सास्कृतिक अनिवार्यताएँ अभी भी अस्पष्ट हैं। तर्क आधारित विचार से जहाँ आधुनिकीकरण होता है वही आधुनिकीकरण तर्क आधारित विचार के लिए भूमि का निर्माण करता है। तर्क का विचार ही स्वय मे पुनर्विचार की अपेक्षा करता है, विभिन्न सन्दर्भों

मे इसका तात्पर्य बदल जाता है। तर्काश्रित चिन्तन के कई स्तर होते हैं। यह अनुभव किया गया है कि परानुभूति, गतिशीलता और उच्च सहभागिता विकास म महत्त्वपूर्ण योगदान करते हैं पर साथ ही यह भी स्वीकार करना चाहिए कि अल्पविकास की स्थितिया इन विशेषताओ के विकास मे बाधा डालती हैं। उन्हे विकसित करने के लिए कोई उपयोगी दिशानिर्देश उपलब्ध नहीं है। सचार और शिक्षा कुछ दशाओ मे उनकी उन्नति कर सकते हैं, पर ये दोनो पूर्वाग्रहो और पहले से स्थित विचारो को और भी दृढ करने के लिए प्रसिद्ध हैं। सापेक्षिक वचना विकास की दिशा म किये जानेवाले प्रयासो को प्रोत्साहित कर सकती है पर वह निष्क्रियता तथा भाग्यवादिता को भी आगे बढाती है। उपलब्धि की आवश्यकता विषयक प्रेरणा के विचार–पुरस्कार की अनुभूत इच्छा को ध्यान मे न रखकर उत्कर्ष की इच्छा–पर जरूरत से अधिक बल दिया जा चुका है। इसके सभी परिणाम सामाजिक रूप से वाछनीय नही हैं। अपने मूल रूप मे स्व की ओर उन्मुख यह विचार सामुदायिक दृष्टिकोण की उपेक्षा करता है। इसके अतिरिक्त इस प्रेरणा को बढाने के लिए सुझाये गये कुछ तरीके बेहूदे हैं। क्या इसे छोटी अवधि के क्रैश कार्यक्रमो से उन्नत किया जा सकता है ? लक्ष्य साधन का तार्किक गणित और गणना कर जोखिम लेनेवाला व्यवहार वृद्धि के लिए आवश्यक है, परन्तु गरीबी की सस्कृति मे लोग परम्परा द्वारा प्राप्त सुरक्षा की भावना को अपना सम्बल बनाए रखते हैं।

विस्तारित परिवार, जाति तथा धर्म जैसी सस्थाओ को देश की अर्थव्यवस्था के पिछडेपन तथा समाज मे गतिशीलता की कमी के लिए दोषी ठहराया गया है। यह आलोचना केवल अशत ही सही है। आलोचक यह नही बताते कि तीव्र विकास के लिए आधार तैयार करने के उद्देश्य से इनको किस तरह समाप्त या नष्ट किया जाय। इस बात की सम्भावना ज्यादा है कि ये सस्थाएँ और इनसे जुडी अभिवृत्तियो मे आर्थिक विकास की सार्थक मात्रा प्राप्त हो जाने के बाद बदलाव आयेगा और वे अपने को बदलती हुई परिस्थितियो से अनुकूलित कर लेगी। अब तक विकास के विशेषज्ञ कुछ अटकलबाजिया के आधार पर कार्य कर रहे थे जिनमे से अधिकाश कभी जाची परखी नहीं होती हैं। यह उल्लेखनीय है कि ये निदान असमान विश्व-अर्थव्यवस्था तथा विकासशील देशो की दमनकारी सरचनात्मक विशेषताओ के बारे मे मौन रहते हैं। मौन के इस षड्यन्त्र ने तीसरी दुनिया मे विकास के प्रमुख मुद्दो पर सार्थक विवेचन को बाधित किया है।

ऊपर जिन कमियो की चर्चा की गयी है उनके लिए 'गरीबी की सस्कृति को जिम्मेदार ठहराया गया है, जो उपलब्धि-अभिप्रेरणा की कमी, प्रगति को परिभाषित करने मे असफलता और जोखिम लेने के लिए अनिच्छा की व्याख्या करती है। ऐसी सास्कृतिक परिस्थिति मे लोगो मे नवाचारो की कमी रहती है,

वे भाग्यवादी हो जाते हैं और भविष्य के लाभो के लिए वर्तमान की सन्तुष्टि को विलम्बित करने की बात को समझ नहीं पाते। उनकी विश्वदृष्टि सीमित होती है उनके अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धो मे परानुभूति की मात्रा कम होती है और पारस्परिक अविश्वास बहुत बढ जाता है। गरीब प्राय अपनी दशा की व्याख्या भाग्य द्वारा थोपी हुई स्थिति के रूप मे करते हैं या फिर उसे अपनी जन्मजात कमियो से जोडते है। पारम्परिक विश्वदृष्टि और मूल्य व्यवस्था उनके इस प्रत्यक्षीकरण को समर्थन देती है। गरीबी की सस्कृति का यह दोषपूर्ण दृष्टिकोण मानता है कि गरीब की दयनीय स्थिति स्वय अपने पर आरोपित कमियो का परिणाम है और उसे नयी सूचनाओ और कौशलो की सहायता से बदला जा सकता है। आर्थिक और सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था की दमनात्मक तथा शोषक प्रवृत्ति को गरीबी और दैन्य के मूल कारण के रूप मे कभी भी प्रस्तुत नहीं किया जाता।

साथ ही गरीबी की सस्कृति की विशेषताओ को प्रचलित सामाजिक स्थिति के प्रति गरीब की प्रतिक्रिया के रूप मे, न कि उनकी गरीबी के कारण के रूप मे शायद ही निरूपित किया जाता है। यह भुला दिया जाता है कि गरीबी स्वय को गरीबो के द्वारा उत्पन्न वातावरण और मूल्यो के कारण नहीं दुहरायी जाती बल्कि जो गरीब नही हैं उनके आर्थिक राजनीतिक दबावो से उपजे व्यापक सरचनात्मक ढाँचे के कारण है। यह सामाजिक परिस्थिति की आवश्यक परिणति है। मूलत काम के अभाव और अत्यन्त कम आमदनी के कारण गरीब को अपने लिए उपलब्ध अत्यन्त सीमित साधनो से अपना काम चलाना पडता है। यह स्थिति गरीबो की अमानवीय दशा को स्वीकारने और उसके बारे मे मौन को जन्म देती है। नयी सूचनाएँ और कौशल इस परिस्थिति को बदलने मे विशेष रूप से सहायक नही हो सकते। यह बात विकास कार्य के लगभग सभी क्षेत्रो मे सिद्ध हो चुकी है। कृषि या कुटीर उद्योगो के क्षेत्र मे भी कोई सन्तोषजनक प्रगति नही हो सकी है। नयी जानकारी के बावजूद परिवार नियोजन तथा स्वास्थ्य के कार्यक्रम सफल नहीं हो सके हैं। जहाँ दोनो समय का खाने का जुगाड ही एक उपलब्धि है यह आशा कि गरीब अपनी सन्तुष्टि को विलम्बित कर दे या बचत करे या निवेश के लिए जोखिम उठाये बेमानी है।

प्रच्छन्न रूप से यथास्थिति का समर्थन करनेवाले विकासात्मक तरीके गरीबी को कम करने की दिशा मे सार्थक ढग से कारगर नहीं हो सके हैं। यहाँ तक कि भारत मे जो गर्व से विश्व के 10 सर्वाधिक उद्योगीकृत देशो मे अपनी गणना करता है, निरपेक्ष गरीबी मे रहनेवालो की सख्या स्थिर रही है। कुछ के अनुसार इसमे वस्तुत वृद्धि हुई है। तीसरी दुनिया के अधिकाश भाग मे स्थिति लगभग एक जैसी है। तीन दशको के विकास के प्रयत्नो के बावजूद, जिनमे विस्तार के

पश्चिमी स्तर शायद सम्भव नहीं होंगे और न वे वांछित ही हैं, हमें सन्तुष्ट और पूर्ण जीवन प्रदान करनेवाले वैकल्पिक सरूपों को विकसित करना होगा। *समय समय पर लक्ष्यों को निश्चित और पुनर्निर्धारित करना होगा और क्रमश उच्च* स्तरों पर ले जाना होगा। हाँ, आरम्भ अवश्य साधारण स्तर से करना होगा। असम्भव ऊँचाई पर अपनी दृष्टि गडाने मे कोई अर्थ नहीं है, विकास ऐसा होना चाहिए जिसे धारण किया जा सके।

दूसरा, विकास के राष्ट्रीय सन्दर्भ मे सबसे पहले निरपेक्ष गरीबी और उसके बाद सामान्य गरीबी को समाप्त करने पर ध्यान देना होगा। यह बखूबी सिद्ध हो चुका है कि तीसरी दुनिया की अधिकाश समस्याओ की जड मे गरीबी है। समाजविज्ञान के क्षेत्र मे अब तक प्रस्तुत प्रमुख व्याख्याएँ अनुपयुक्त रही हैं, सूचनाओ और कौशलो में निवेश की युक्ति अभी चुकी नही है।

यदि शोषण और दमन को पुष्ट करनेवाली वर्तमान सरचनाओ को समाप्त नहीं किया गया तो यह परिस्थिति और भी दयनीय होगी। अत सरचनात्मक परिवर्तन के प्रति एक गत्यात्मक दृष्टिकोण को विकास की सभी योजनाओं मे उच्च प्राथमिकता मिलनी चाहिए। गरीबी की समस्या के सफल समाधान की यह अनिवार्य अपेक्षा है, कल्याणवादिता कोई उत्तर नहीं है। इसके तरीको मे साम्प्रतिक सामाजिक यथार्थ की चुनौतियों के प्रति सृजनात्मक और देशज प्रतिक्रिया प्रतिबिम्बित होनी चाहिए, जो उन स्थिर स्थापित सोच विचार की प्रवृत्तियों से अलग हो जिन्होंने अब तक प्रगति को रोक रखा था। योजना और कार्यान्वयन की क्रियाविधि को क्रान्तिक ढग से बदलना होगा।

तीसरा, अत्यधिक सदिच्छावाले सस्था निर्माण के प्रयास, जो नियोजन की प्रक्रिया और विकास के परिणामो तक गरीबो की पहुँच के उद्देश्य से किये जाएँगे, चेतना विस्तार के कल्पनाशील कार्यक्रमो का दृढ आधार नही होने से असफल होगे। आम आदमी को यह जानना चाहिए कि उसके अधिकार क्या हैं, और उसे अपने दायित्वो को भी समझना चाहिए। चेतना विस्तार के अभाव मे राजनीतिकरण, जैसा कि कई विकसित देश काफी बडी कीमत अदा करके सीख रह हैं, परिणाम विरोधी है, चेतना विस्तार तथा शिक्षा मे ही शक्तिशाली मानव ससाधनो के सक्रियकरण तथा सहभागी निर्णय प्रक्रिया की कुजी निहित है। वे प्रासगिक सस्था निर्माण को भी जन्म देते हैं। इस प्रक्रिया मे चमक धमकवाले अभिजात वर्ग द्वारा थोपी गयी सरचनाओ का अस्वीकार भी है जो फलदायी नही होती। इसका एक अतिरिक्त लाभ यह होगा कि परिवर्तन के मार्ग और लक्ष्यो के बारे मे लोग स्वय स्वदेशी और बाह्य अवयवो का ठीक मिश्रण तय कर सकेंगे।

चौथा, विकास मे समान भागीदारी को प्राप्त करने के लिए सकारात्मक कार्यवाही–धनात्मक तरफदारी–वाछित है। बिना इसके अवसरो की सही समानता

नहीं लायी जा सकेगी। इस नीति मे महिलाओ समेत समाज के सभी वचित वर्ग सम्मिलित होने चाहिए। इसे वस्तुत तैयारी की एक युक्ति माना जाना चाहिए और एक परोपजीवी वर्ग के लिए समर्थन के रूप मे व्यर्थ नहीं हो जाने देना चाहिए।

पाँचवाँ सस्थागत सरचना पर एक नजदीक और समीक्षात्मक दृष्टि वाछित है। पश्चिमी ढाँचे की प्रजातात्रिक सस्थाएँ तीसरी दुनिया के कई देशो मे ध्वस्त हो गयीं कुछ अन्य मे वे केवल एक दिखावा मात्र रह गयी हैं और जहाँ वे स्थायी सिद्ध हुई हैं वहाँ अनेक समस्याओ से ग्रस्त हैं। इसलिए एक सम्भव विकल्प तलाशना होगा। विकासशील देशो के अधिकाशत औपनिवेशिक प्रशासनिक ढाँचा को इस तरह पुनर्गठित करना होगा कि वे विकास की आवश्यकताओ के प्रति अधिक सवेदनशील और प्रतिक्रियाशील हो सके। योजना निर्माण तथा परियोजना की तैयारी और उसके मूल्याकन के बीच एक वडी खाइ है योजनाएँ प्राय दुरूह तथा अतिव्यवस्थित होती हैं परियोजना की रचना गड्डमड्ड और उसका मूल्याकन निष्प्रभावी। प्रशासनिक पुनर्सरचना–विशेषत इसके प्रशिक्षणवाले अवयव की–के लिए काफी पुनरुद्धार तथा नवाचार की आवश्यकता होगी। यह जानना आवश्यक होगा कि इस क्षेत्र मे पहले के प्रयास क्या असफल हो गये ताकि उपयुक्त सशोधन किये जा सके।

छठा सामाजिक सास्कृतिक पर्यावरण के प्रबन्धन के लिए आवश्यक उपायो का एक पैकेज निश्चित करना होगा जो अपने बढते खोखलेपन के कारण प्रशासन और विकास दोनो को ही कठिन बना रहे हैं। इनमे से कई समस्याएँ विकास के अभाव या अनुपयुक्तता पर थोपी जा सकती हैं परन्तु उनमे से कुछ विकास की प्रक्रिया की या उसकी आन्तरिक कमियो की परिणति हैं। कहानी यहीं समाप्त नही होती है। तात्कालिक समस्याओ का सुलझानेवाले उपयोगितावाद पर केन्द्रित अपरिपक्व राजनीति असन्तोष की आग मे घी का काम करती है और अगले 25 वर्ष या उसके बाद का परिप्रेक्ष्य नियोजन को धुँधला कर देता है। यह आपसी लडाई मृदु विकल्पो को चुनने से जुडी रह जाती है। यदि इसमे बाहरी तत्त्वो द्वारा अस्थिरता तथा विच्छेदन की शक्तियो को जोड दिया जाय तो काम और भी विशाल हो जाता है पर जब तक हम इस पर हाथ नहीं रखग विकास का विरोध प्रतिगमन होना सम्भव है।

अन्त मे, विकास के व्यापक सन्दर्भ को फिर से जाँचना होगा। जब तक ससाधनो तक असमान पहुँच बनी हुई है तब तक गरीब और अमीर देशो के बीच की बडी दीवार को गिराने के लिए कुछ भी करना सम्भव नही होगा। वस्तुत दो ही प्रकार के विश्व हैं–समृद्धो का लघु विश्व तथा गरीबो का विशाल विश्व–हालाँकि इस द्विध्रुवीय विश्व मे कुछ और छोर भी देखे जा सकते हैं। सभी

भविष्यकथन यह सुझाते हुए प्रतीत होते हैं कि यदि वर्तमान प्रवृत्ति बनी रही तो इन दोनो विश्वो के बीच की खाई जब हम 21 वीं सदी मे प्रवेश करेगे तो, कम न होकर और भी अधिक विस्तृत हो जायेगी। सहारा और उससे सम्बद्ध आफ्रिकी देशो और दक्षिणी एशिया के लिए सम्भावनाएँ बड़ी क्षीण हैं। एक ग्रह और एक पर्यावरण की बात करना फैशन बना गया है। वास्तव मे अब समय ऐसा है कि हम एक मानवता की बात सोचे। ससाधनो की अधिक समान भागीदारी के साथ साथ विकसित तथा विकासशील देशो के बीच आधिपत्य और अधीनता के सम्बन्धो की अन्य सभी अभिव्यक्तियो पर भी ध्यान देना होगा। गैर बराबरी के सम्बन्धो के आधार पर विकास मे सच्ची भागीदारी नहीं हो सकती।

इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उपलब्ध समस्त मानव ससाधनो के एक बडे भाग का विनियोग मानवीय दशा की उन्नति मे न करके भारी हथियारो की ओर आत्म विनाश की हमारी क्षमता की वृद्धि करने मे हो रहा है। यदि उसे रचनात्मक उपयोगो की ओर लगाये तो हमारी प्रवीणता मानवता के लगभग दो तिहाई भाग के दुख और दरिद्रता की भयकर समस्याओ का समाधान खोज सकती है। समृद्धि से बहुत सा अनुपयोगी खर्च भी बढता है। इसका एक हिस्सा सदियो से मानवता को कष्ट देनेवाली समस्याओ के समाधान के लिए उत्पादन के कार्यों के लिए सुरक्षित रखा जा सकता है। उद्योगीकृत देशो के सकल राष्ट्रीय उत्पाद का दो या तीन प्रतिशत, यदि समस्या समाधान के कार्यो मे लगाया जा सके तो तीसरी दुनिया के लिए चमत्कार हो सकता है। इससे केवल मानवीय कष्ट ही दूर नहीं होगा अपितु निकट भविष्य मे उभरनेवाली अस्थिरता की शक्तियो, जो हमारे लिए भयप्रद हैं को भी रोका जा सकेगा। और यह तीसरी दुनिया के लिए दान नहीं होगा, न ही औपनिवेशिक काल मे यहाँ से ससाधनो के दोहन की भरपाई ही होगा, जिसके आधार पर पश्चिम का विकास हो सका।

यदि उद्योगीकृत देश तीसरी दुनिया से अनवीकरणीय ससाधनो का उपयोग करना चाहते हैं तो उन्हे उसकी सही कीमत देने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसके कारण न केवल विकसित देशो को ससाधनो का काफी अन्तरण ही होगा बल्कि दुर्लभ ससाधनो के शीघ्र समापन पर प्रतिबन्ध की दिशा मे भी एक कदम होगा। जनसख्या के आधार पर, हमारे साझे ससाधनो के दोहन से होनेवाले फायदो का उचित लाभ तीसरी दुनिया को भी मिलना चाहिए। ससाधनो का सरक्षण समृद्ध देशो के स्तर से आरम्भ होना चाहिए जो खतरनाक पैमाने पर उनका उपभोग करते रहे हैं। इसी तरह, परिवेशीय और पर्यावरणीय सन्तुलन के सरक्षण की समस्या अतिसमृद्ध विश्व मे सर्वाधिक है। अत उन्हे प्रभावी नियन्त्रण की योजनाओ के साथ आगे आना चाहिए। परन्तु अति औद्योगिक देशो से थोडी मात्रा मे भी स्वेच्छया त्याग की आशा व्यर्थ है। तर्क और बुद्धि तीसरी दुनिया के पक्ष मे हो सकती

है पर यह ससार कमजोर और असगठित है। जब तक वह सामूहिक शक्ति विवसित नहीं कर लेगा तब तक वह मजबूत स्थिति से सौदा नही कर सकेगी। खण्डन मडन और शब्दाडम्बर केवल बहस के बिन्दु हैं।

साथ ही तीसरी दुनिया मे आपसी सहयोग के सरूप को उपक्षेत्रीय तथा क्षेत्रीय आधार पर आरम्भ करने के लिए उन्हे विकसित और दृढ करना होगा। यह सहयोग केवल व्यापार और उद्योग तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए। तीसरी दुनिया की आत्मनिर्भरता के नये क्षितिज खोजने का अथक प्रयास होना चाहिए। मानवीय तथा वित्तीय ससाधनो को एकत्र कर तीसरी दुनिया विकसित और अविकसित के बीच बढती वैज्ञानिक और तकनीकी खाई को पाटने की दिशा म कदम बढा सकती है। तीसरी दुनिया की बौद्धिक क्षमता तथा प्रशिक्षित कोशल पश्चिम की प्रगति मे कोई कम यागदान नहीं कर रहे हैं। कार्य के अनुकूल वातावरण और उपयुक्त प्रोत्साहन के द्वारा उन्हे तीसरी दुनिया की सस्थाओ मे वापस लाया जा सकता है जहाँ वे आधारभूत और अनुप्रयोगात्मक दोनो ही प्रकार के प्रासगिक शोध कर सकेगे।

भविष्य के दिशा सकेत क्या हैं ? हमे कोन सा मार्ग अपनाना चाहिए ? असममित विश्व व्यवस्था मे अन्तर्निहित विरूपण का निराकरण आवश्यक किन्तु कठिन है। इसकी लडाई लम्बी हागी और उसके परिणाम धीरे धीरे सामने आएँग। इन प्रयत्नो को अन्तर्राष्ट्रीय धरातल के साथ राष्ट्रीय धरातल पर भी करना होगा। हमारा प्रयत्न होना चाहिए कि हम देशज ऊर्जा को मुक्त करे और उसके माध्यम से विज्ञान और प्रौद्योगिकी का विकास कर उन्नत देशो के समकक्ष बने। विश्व व्यवस्था और राष्ट्रीय व्यवस्थाओ का पुनर्गठन तभी सम्भव हागा।

विकास का नियोजन और कार्यान्वयन कुछ आधारभूत तत्त्वो को ध्यान म रखकर करना चाहिए। समकालीन सदर्भ मे विकास के निदर्शन मे नीचे दिए गए तत्त्वा का समावेश आवश्यक है

1 **प्रभावशाली आर्थिक कार्यक्रम** जो उत्पादन वृद्धि का सुनिश्चित करे

2 **सामाजिक न्याय,** आय उत्पाद और सार्वजनिक सेवाओ की दृष्टि से

3 **पारिस्थितिकी प्रज्ञान,** सीमित ससाधनो के अपव्यय और पर्यावरण के प्रदूषण को रोक सकने की दृष्टि से

4 **सास्कृतिक सवेदनशीलता,** लक्ष्यो के निर्धारण और कार्य विधि के सचालन मे

5 **लोकतत्रीकरण और सहभागिता,** वैकासिक निर्णयो और उनके क्रियान्वयन म

6 **देशज ऊर्जा को प्रोत्साहन,** समस्याओ के हल और विज्ञान और प्रविधि के अनुकूलन मे,

7 आर्थिक, राजनीतिक और सास्कृतिक वहनीयता, जो इन क्षेत्रो को सघर्ष मुक्त रख अविरल विकास प्रक्रिया को सभव बनाए

8 सामाजिक समाकलन तथा सामजस्य की दृष्टि से समर्थ, जो राष्ट्र निर्माण और नियत्रित विश्व व्यवस्था के विकास मे सहायक हो।

विकास आज एक चुनौती दे रहा है और एक अवसर भी प्रस्तुत कर रहा है। तत्काल चिन्तन और कार्य आवश्यक है क्योकि हमारी जीवन रक्षा ही खतरे मे है। आधुनिकीकरण अपने उस मौलिक प्रारूप के आधार पर सम्भव नहीं है जिसमे प्रच्छन्न रूप से असमानता तथा अन्याय को महत्त्व दिया गया है।

●●

# संदर्भ


## 1 परिवर्तन की प्रक्रिया

1 Goldschmidt, Walter Man s Way A Preface to The Understanding of Human Society New York Holt, 1959

2 Lenski Gerhard Human Societies, New York, Mcgraw Hill 1970

3 Wallerst in Immanuel The Modern World System, Vol I New York Academic Press 1974

## 2 आधुनिकीकरण तथा विकास की दुविधाएँ

1 O Connell James The Concept of Modernization in Cyril E Black (ed ) Comparative Modernization New York The Free Press 1976

2 Huntington Samuel P The change to change Modernization Development and Pol tics in Cyril E Black (ed ) Comparative Modernization Ibid

3 Toffler Al in The Third Wave New York Bantam Books 1980

4 Huntington The change to change pp 155 174

5 Toffler The Third Wave

6 The Global 2000 report to the President Entering the Twenty First Century Vol 1 A report prepared by the Council on Environmental Quality and the Department of State Washington D C 1981

## 3 आधुनिकीकारण पर पुनर्विचार

1 Lerner Dan el The Passing of Traditional Society Modernizing the Middle East Glencoe Il The Free Press 1958

2 Giddens Anthony The Consequences of Modernity Stanford Stanford University Press 1990

3 McClelland David C Achieving Society New York Halsted Press 1976

4 Cantril H The Pattern of Human Concerns New Brunswic NJ Rutgers Univer s ty Press 1965

5 Eisenstadt, S N Modernization Protest and Change, Englewood Cliffs NJ Prentice Hall 1966
6 Black Cyril E Dynamics of Modernization, New York Harper and Row 1966
7 Leontief Warsily Ann p Carter and Peter A Petri Future of the World Economy A United Nation Study, New York 1977

## 4 विकास पर पुनर्विचार

1 Rostow Walt W Stages of Economic Growth Cambridge Cambridge University Press 1961
2 Myrdal Gunnar The Challenge of World Poverty New York Pantheon 1970
3 Seers Dudley The Meaning of Development New Delhi Eleventh World Conference of the World Society for International Development, 1969
4 Kuznets Simon Modern Economic Growth Findings and Reflection In Cyril E Black (ed ) Comparative Modernization New York The Free Press 1976
5 Haq Mahbub ul The Poverty Curtain Choices for the Third World New York Columbia University Press 1976
6 Ibid p 37
7 Hettne Bjorn Current Issues in Development Theory Stockholm, Swedish Agency for Research Cooperation with Developing Countries 1978
8 Santos T Dos The Crisis of Development Theory and the Problem of Dependence in latin America Siglo Vol 21 1969
9 Baran Paul The Political Economy of Growth, New York Monthly Review Press 1962
10 Frank Andre Gunder Sociology of Development and Underdevelopment of Sociology, London Pluto Press 1971
11 Singer Hans W Dualism Re visited A New Approach to the Problems of the Dual Society in Developing Countries Journal of Development Studies, Vol 7 No 1 October 1970
12 What Now Another Development The 1975 Dag Hammarskjold report on development and international cooperation Uppsala 1975

## 5 सामाजिक विकास • मानवीय आवश्यकताएँ तथा जीवन की गुणवत्ता

1 Paiva J F X The Dynamics of Social Development and Social Work In Daniel S Sanders (ed ) The Developmental Perspective in Social Work, University & Hawaii Press forthcoming
2 UNESCO UNESCO S Policy Relevent Quality of Life Research Programme Paris Unesco 1977
3 Mallman, C A The Needs and Processes Goals and Indicators Paper submitted for the GPID project of the United Nations University 1977 mimeo

## 6 नीति के आयाम

1 Matthews William H The Concept of Outer Limits in William H Matthews (ed ) Outer Limits and Human Needs Uppsala Dag Hammarskjold Foundation 1976
2 Elzinga Aant. Evaluating the Evaluation game On the Methodology of Project

Evaluation with Special Reference to Development Cooperation Stockholm Swedish Agency for Research Cooperation with Developing Countries

## 7 कार्यक्रम के प्रमुख तत्त्व

1 **World Development Report** World Bank Washington D C 1980
2 **World Development Report** World Bank Washington D C 1978
3 Friere Paolo **The Pedagogy of the Oppressed** Harmondsworth Penguin 1972
4 Lewis Oscar **The Culture of Poverty** Scientific American Vol 215 no 4 October 1966
5 Leeds Anthony **The Concept of the Culture of Poverty** Conceptual Logical and Empirical Problems with Perspective from Brazil and Peru in Eleanor Burke Leacocke (ed ) **The Culture of Poverty a Critique** New York Simon and Schuster 1970
6 Illich Ivan **The Deschooling Society** New York Harper and Row 1971

## 8 विकास का नया परिदृश्य एवं 9 अन्तरावलम्बन और स्वायत्तता

1 United Nations Development Programme **Human Development Report 1994** New Delhi Oxford University Press 1994
2 World Bank **World Development Reprot 1994** New York Oxford University Press 1994